॥ श्री विश्वनाथो विजयते ॥

* मन्त्रयोग संहिता *

-: भाषानुवादसहित :-
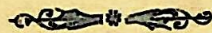
-: प्रथमावृत्ति :-

श्रीभारतधर्म महामण्डलके

शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा प्रकाशित

काशी ।

सम्वत [illegible]०४६

मूल्य ८) रुपया

प्रकाशक :—

श्रीभारतधर्म महामण्डल

लहुराबीर, वाराणसी–२२१००१

प्रथम संस्करण १०००

सम्वत् २०४६

सन् १९८९

मुद्रक :—

हनुमान मुद्रण यन्त्र

बड़ी पियरी, वाराणसी–१

॥ ॐ तत्सत् ॥

॥ मन्त्रयोग संहिता ॥

❀ भूमिका ❀

चित्तवृत्ति का निरोध करते हुए भगवत् प्राप्ति के लिये जितने प्रकार की साधन-प्रणालियाँ हो सकती हैं उन सबको पूज्यपाद महर्षियों ने चार भागों में विभक्त किया है जैसे-मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, और राजयोग-इन चार साधनों में मन्त्रयोग सर्वप्रथम तथा सर्वलोक हितकर है।

यह दृश्यमान निखिल विश्व प्रपञ्च नामरूपात्मक है। नामरूप के द्वारा सृष्ट पदार्थमात्र से ही पृथक सत्ता की उपलब्धि करना सम्भव नहीं होता है। सूक्ष्म एवं स्थूल जगत्-- इन दोनों के प्रत्येक अंग प्रत्यंगों के नाम तथा रूप हैं। वैज्ञानिक सिद्धान्तों से ही यह तत्त्व प्रमाणित होता है। इसलिए नाम तथा रूप समूह का अवलंबन कर जितनी साधन क्रियायें सम्पन्न होती हैं वे सभी मन्त्रयोग के अन्तर्गत हैं।

कोई भी मनुष्य जब स्खलित होकर भूतल पर गिर पड़ता है तब उसे खड़ा होने के लिए जिस प्रकार उसी भूमि का सहारा लेना पड़ता है--जिस पर वह गिरा है, उसी प्रकार मानवों का अन्तःकरण जब नाम और रूप के ही माध्यम से वृत्तियों के कारण चांचल्य और विषय संयोग के कारण बन्धन दशा प्राप्त करता है, तब उसी नाम और रूप का अवलंबन कर ही कुशल क्रियायोग के द्वारा चित्तवृत्ति समूह का निरोध करते हुए बन्धन को छिन्न करना या मुक्ति से भूमानन्द की प्राप्ति करना ही साधक के लिए युक्तियुक्त होता है।

जहाँ कोई भी कार्य होता है वहीं कंपन होता है। और जहाँ कंपन होगा वहाँ शब्द का होना सुनिश्चित है। यह स्वतः सिद्ध एवं विज्ञान से अनुमोदित है। सृष्टि के प्रारम्भ में जिस समय साम्यावस्था

प्रकृति से प्रथम सृष्टि का प्रारम्भ हुआ उस समय साम्यावस्था से जो प्रथम तरंग की ध्वनि उठी थी वही प्रणव है। तथ्य न तो केवल विज्ञानविद, पंडितों के अनुमान से ही सिद्ध है, प्रत्युत सूक्ष्मदर्शी योगियों के द्वारा समाधिगम्य प्रत्यक्षानुभूत चिरसिद्ध विषय है। योग-साधना द्वारा चित्तवृत्ति समूह का निरोध कर साधक जिस समय साम्यावस्थावाली प्रकृति के निकटस्थ होता है उसी अवस्था में वह सर्वदा उस अनिर्वचनीय प्रणवध्वनि का श्रवण कर परमानन्द में लीन हो जाता है।

साम्यावस्थाश्रित प्रकृति के साथ जिस प्रकार प्रणव का सम्वन्ध है उसी प्रकार वैषम्यावस्था की प्रकृति के साथ अनेकानेक बीजमन्त्रों का सम्बन्ध विद्यमान है। साम्यावस्था प्रकृति में सत्त्व, रजः और तमः इन त्रिविध गुणों की समता रहती हैं। जैसे, किसी थाली को जल से पूर्ण कर उसे हिलाने पर सबसे पहले थाली का सम्पूर्ण जल एकाएक कम्पित हो जाता है और उसके बाद विविध तरंगों के घातप्रतिघात से असंख्य तरंगे उत्थित होकर जल को आलोडित करती है, उसीप्रकार साम्यावस्था की प्रकृति से प्रथम कार्य का प्रारम्भ होने पर तीन गुणों का जो युगपत् तरंग उत्पन्न होता है उसी तरंग से ओम्कार का सम्वन्ध है। विविध तरंगों के आघात से आलोडित जल की जो स्थिति है उसीके समान वैषम्यावस्थावाली प्रकृति की विशेष अवस्था में शब्द समूह के साथ अन्यान्य बीजमन्त्रों का घनिष्ठ सम्वन्ध निहित रहता है।

ओम्कार अथवा बीजमन्त्र मुख से जिनका उच्चारण होता है वे सब ही उसी ध्वन्यात्मक प्रथम शब्द का वर्णात्मक प्रतिशब्दमात्र है। योगियोका सिद्धान्त इस प्रकार है "एकमात्र समाधि द्वारा ही इस प्रथम शब्द का श्रुतिज्ञान प्राप्त हो सकता है"। प्रणव केवल ब्रह्म का वाचक है और वीजमन्त्र अलग अलग सत्ताओं के रूप और विभिन्न देवदेवियों के वाचक हैं।

मन्त्र शाखा पल्लवों से युक्त तथा शाखापल्लवमय भी होते हैं। शाखा और पल्लव भावात्मक होते हैं, अतः मन्त्र भी केवल ओम्कार-रूप, केवल वीजरूप, ओम्कार बीज और शाखा पल्लंव से युक्त, केवल बीज और शाखा पल्लव से युक्त, केवल शाखापल्लवमय इस-प्रकार अनेक भेदों से विशिष्ट हुआ करते हैं। जिस साधक की जिस

प्रकार प्रकृति, प्रवृत्ति तथा योग्यता होती है उनकी परीक्षा कर यदि उसे तदनुरूप मन्त्र का उपदेश किया जाय तो उस मन्त्र के जप करने से उसका कल्याण अवश्य होगा।

जपका त्रिविध विधान शास्त्र में पाया जाता है, जैसे वाचनिक जप, उपांशु जप और मानसजप। मन्त्र जप करते समय यदि दूसरा कोई उसे सुन सका हो तो उसे वाचनिक जप कहा जाता हैं। अगर जप करते समय किसी को न सुनाई दे, जप करनेवाला स्वयं ही केवल अनुभव करता रहता है तो वह उपांशु जप कहलाते हैं, और जप करते समय जिह्वा का संचालन कर मात्र मन द्वारा जो जप किया जाता है उसे मानसिक जप कहा जाता है।

मंत्रयोग में स्थूल ध्यान का विधान विधिवत किया गया है। यह ध्यान साधारणतया चार भागों में विभक्त है-स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान बिन्दुध्यान एवं ब्रह्मध्यान। राजयोग में ब्रह्मध्यान की, लययोग में बिन्दुध्यान की, हटयोग में ज्योतिर्ध्यान की एवं मन्त्रयोग में स्थूलध्यान की विधि योगशास्त्र में वर्णित हुई है।

श्रीभगवान के नित्य, सत्य, अनन्तभावों में से किसी एक भाव को लेकर जो मूर्ति की कल्पना की जाती है वही स्थूलध्यान नाम से अभिहित होता है। सनातन धर्म में नश्वर मूर्ति का ध्यान नहीं किया जाता अर्थात् केवल स्थूलमूर्ति की पूजा आर्यशास्त्रमें विहित नहीं हुआ है। मंत्रयोग का स्थूलध्यान अत्यन्त गम्भीर तथा विज्ञानसम्मत है, भगवत् राज्य के पवित्र आध्यात्मिक भाव समूह को लेकर प्रकारान्तर से उस भावसमूह के रूप की कल्पना की जाती है। यह समस्त रूप नित्य, शुद्ध एवं भावमूलक है। इसलिए सनातन धर्मका स्थूलध्यान जड़मूर्ति का ध्यान नहीं है।

मनुष्य भावों का दास है। मानव का अन्तःकरण भावशून्य होकर एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रह सकता है। वैदिक दर्शन का सिद्धान्त यह है कि भाव शुद्धि के द्वारा असत् कार्य भी सत् हो जाता है। भावों की मलिनता से सत् कार्य भी असत् कार्य में परिणत होता है, जैसे किसी मनुष्य की हत्या करना पाप कार्य है परन्तु यदि यह

हत्या धर्मयुद्ध के लिए, राज्य या साधुओं की रक्षा के लिए की जाय तो वह धर्मकार्य में परिणत होगी, अर्थात् मनुष्यहत्यारूप कार्य असत् होने पर भी भावशुद्धि होने के कारण सत् कार्य के रूप में माना जायगा। इसीप्रकार अनाथ को आश्रय प्रदान करना एक महान कार्य है, परन्तु कोई व्यक्ति पापी के पाप की जानकारी रखता हुआ भी उसे आश्रय या प्रश्रय देता है तो उसका आश्रय या अभयदानरूप सत् कार्य भी असत् भाव के कारण असत् कार्य के रूप में ही गण्य होगा। इस प्रकार देखा जाता है कि सनातन धर्मशास्त्र में भावशुद्धि का प्राधान्य अधिक है।

भावतत्त्व की जानकारी प्राप्त करने के लिए भोग्य विषय के आधार पर इन्द्रियों से उसके सम्बन्ध का अनुमान करना पड़ता है। इन्द्रियों की क्रियाओं के आधार पर अन्तःकरण के वृत्तियों का अनुमान करना पड़ता है। इसप्रकार की साधना करते हुए चित्तवृत्तियों के मूलभूत भाव समूह की स्पष्ट अनुभूति होती है। दर्शनेन्द्रिय द्वारा पहले स्त्रीरूप विषय को देखने के साथ ही उससे चित्त में नाना प्रकार की वृत्तियाँ उदित होती हैं। इसी स्थिति में द्रष्टा का भाव अगर मलिन है तो वह स्त्रीरूप विषय को भोग्य वस्तु के रूप में समझेगा। अगर उसके अन्तःकरण में भाव की विशुद्धता है तो वह स्त्रीरूप विषय को मातृरूप में अथवा जगज्जननी की प्रतिकृति के रूप में देखने में समर्थ होगा। इस प्रकार भावों के यथार्थ स्वरूप के आधार पर भाव--शुद्धि के अनेक उपायों का वर्णन सनातन धर्मशास्त्र में किया गया है।

भावराज्य के पवित्र आध्यात्मिक भाव समूह के आधार पर विष्णु, शिव एव दुर्गा आदि का स्थूलध्यान समूह निर्णीत हुआ है। शक्तिरूपों में दुर्गादेवी के रूप का प्राधान्य माना गया है। साधारण लोगों के जानकारी के लिये दुर्गादेवी के रूप के भावतत्त्व का वर्णन संक्षेप में किया जा रहा है। सिंहरूपी रजोगुणों द्वारा महिषासुररूपी तमोगुण परास्त तथा अभिभूत होकर नीचे की ओर अवस्थित है। रजोगुणी सिंह के ऊपर स्थित है शुद्ध सत्त्वगुणमयी ब्रह्मरूपिणी दस दिक् लप दस हाथों में शस्त्र धारणपूर्वक पूर्ण शक्तिशालिनी सिंहवाहिनी माँ दुर्गा। उनके एक ओर बुद्धि के अधिष्ठाता गणपति हैं एवं धन की

अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी। दूसरी ओर बल के अधिष्ठाता कार्त्तिकेय एवं विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती हैं। अतः दुर्गा देवी सर्व शक्तिमयी जगज्जननी महामाया की प्रतीक हैं। इसतरह जितने प्रकार के स्थूल ध्यानों का वर्णन हैं वह सब सद्भावमय और सर्वलोकहितकर है।

मन्त्रयोग में जिस तरह नानाप्रकार मन्त्र समूहकावर्णन है। सगुण ध्यान में पाँच प्रकार के ध्यान का उल्लेख है। यथा-विष्णु, सूर्य, देवी, गणेश, एवं शिव। पूज्यपाद महर्षियों ने इसप्रकार के पाँच भेद का कारण वर्णन करते हुए कहा है कि दृश्यमान सृष्ट जगत् पाञ्च भौतिक होने से प्रत्येक मानवीय प्रकृति में भी पाँच प्रकार के भेद विद्यमान है। अतः पृथक पृथक प्रकृति के लिये पंचोपासना विहित है। जिसप्रकार प्रकृति, प्रवृत्ति एवं योग्यतानुसार मन्त्रोपदेश करना कर्त्तव्य है उसीप्रकार साधक की प्रकृति, प्रवृत्ति एवं योग्यता के अनुसार ध्यान का उपदेश प्रदान करने से साधक की आध्यात्मिक उन्नति सम्भव है।

मन्त्रयोग षोडश अंगों में विभक्त है--(१) भक्ति, (२) शुद्धि,-यह शुद्धि पुनः दिक् शुद्धि, स्थानशुद्धि, शरीरशुद्धि एवं अन्तः शुद्धि इत्यादि भेद से अनेक प्रकार की है, (३) आसन, सुखपूर्वक बैठने की रीति अथवा बैठने का आधार, (४) पंचांग सेवन, अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार गीतापाठ, सहस्रनामपाठ, स्त्रोत्रपाठ आदि, (५) आचार अर्थात् जिस रीति के अनुसार साधक को रहना चाहिए। त्रिविध गुणानुसार यह आचार भी त्रिविध है, (६) धारणा-अन्तः वहि - र्भेद से दो प्रकार की है, (७) दिव्यदेश षोड़श प्रकार के हैं। जिस आधार पर उपासना की जाती है उसे दिव्यदेश कहते है, जैसे-अग्नि, ज़ल, मूर्ति. पट, हृदय, मन आदि। किञ्चित विचार करने से ही इस दिव्यदेश सम्वन्धी विज्ञान को सरलता से समझा जा सकता है और यह समझा जा सकता है कि सनातन धर्म पालन करनेवाले साधक कितने सरल उपायों द्वारा कतिपय आधार विशेष का आश्रयकर निराकार व्रह्म की उपासना में लगे रहते हैं। (८) प्राणक्रिया; प्राणायाम और न्यास आदि, (९) मुद्रा, मुद्रा समूह भी भावमय शारीरिक क्रियामात्र है, (१०) तर्पण (११) हवन (१२) बलि (१३)

योग, यह भी बहिः एवं अन्तः भेद से द्विविध है; (१४) जप (१५) ध्यान, (१६) समाधि; मन्त्रयोगसमाधि का नाम महाभाव है। रीति और क्रम के अनुसार इन षोड़श अंगों की साधना करने से योगी समाधि में सिद्धि लाभ कर वास्तविक आत्मानन्द का अनुभव करने में समर्थ होता है। उपर्युक्त षोड़शांग मन्त्रयोग का इस संहिता में विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है।

श्री काशीधाम
गुरुपूर्णिमा सम्वत् २०४६ विक्रम्

ब्रजमोहन दीक्षित
अध्यक्ष
श्रीभारतधर्म महामण्डल
लहुरावीर, वाराणसी

विषयानुक्रमणिका

मन्त्रयोगसंहितातन्त्रम्

मंगलाचरणम्

श्री सच्चिदानन्दमयात्परात्मनस्समुद्गतं
विश्वमिदं यतो विभोः ।
स्थितिश्च यस्मिन् जगतो लयोऽपि च
नमोऽस्तु तस्मै परमात्मने भृशम् ॥१॥

सर्वैश्वर्य-सम्पन्न सच्चिदानन्द रूप जिस परमात्मा से इस विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, जिसमें संसार की स्थिति है और अन्त में उसका लय भी हो जाता है, उस परमात्मा को बार-बार नमस्कार ॥१॥

एकं रूपविवर्जितं निखिलगं ध्यायन्ति पञ्चात्मना,
विष्णुं वैष्णवपुंगवा गणपतिं यं गाणपत्या जनाः ।
शक्तिं तच्चरणविन्दरसिकाः सौर्याश्च सूर्यं, शिवम्
शैवा यं समुपासते नम इदं लीलात्मने स्तान्मम ॥२॥

उस सर्वव्यापक रूपविवर्जित निराकार परमात्मा को साधक भक्त पाँच प्रकार से ध्यान करते हैं। वैष्णव श्रेष्ठ उसे विष्णु कहते हैं। गणपति को प्रधान मानने वाले लोग उसे गणेश कहते हैं। उस मातृ-चरणकमल से अनुराग करने वाले उसे शक्ति कहते हैं। सौर्य उसी को सूर्य तथा शैव उसी को शिव कहते हैं। ऐसे लीला पुरुषोत्तम को मेरा श्रद्धापूर्वक प्रणाम ॥२॥

यो निर्गुणो मनोवाचामगोचरतया स्थितः ।
सोऽयं साधककल्याणं विधातुं सगुणां तनुम् ॥
धृत्वा नयति तानाशु परमं पदमव्ययम् ।
एकत्वेप्यद्वितीयत्वे यस्य वै परमात्मनः
भगवच्छक्ति - गणप - सूर्य - रुद्रान्वितासु वै
गीतासु वर्णनम्भेदात् सोऽधुना सन्नमस्यते ॥३-४-५॥
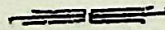
जो निर्गुण है, मन और वाणी से अगोचर है, वही परमेश्वर साधक के कल्याण के लिये सगुण रूप शरीर धारण कर भक्तों को अव्यय परम-पद प्रदान करता है। यद्यपि वह एक है, अद्वितीय है, फिर भी उस पर-मात्मा का वर्णन भेदवाद को आधार मानकर श्रीमद्भगवद्गीता, शक्ति-गीता, गणपति गीता, सूर्यगीता, रुद्रगीता आदि गीताओं में पृथक्-पृथक् किया गया है। वही सर्वशक्तिमान् हम साधकों द्वारा नमस्कृत है अर्थात् हम उसका श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर रहे हैं।

आचार्याः मन्त्रयोगे यदपि मुनिगणाः सन्ति चान्ये प्रसिद्धाः,
मन्त्रव्याख्या-विशेषैर्जगति बहुमतो नारदोऽसौ पुलस्त्यः ॥
गर्गो वाल्मीकिरार्यो भृगुरमरगुरुः शुक्रदेवो वशिष्ठः ।
स्मृत्वा नामाष्टकं तच्छुभमनुविहिता संहिता मन्त्रयोगे ॥६॥

मन्त्रयोग (शास्त्र) से सम्बन्धित अनेक आचार्यों और ऋषीश्वरों के नाम प्रसिद्ध हैं। मन्त्रयोग की विशिष्ट व्याख्या के कारण नारद, पुलस्य, गर्ग, वाल्मीकि, आर्य भृगु, देवों के गुरु वृहस्पति, शुक्र और वशिष्ठ इन आठ मुनिवरों के नाम स्मरण कर मंन्त्रयोग संहिता का अनुविधान किया जा रहा है।

अथ मन्त्रयोगलक्षणम्

नामरूपात्मिका सृष्टि र्यस्मात्तदवलम्बनात् ।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः ॥१॥

सृष्टि नामरूपात्मक है। नामरूप के आश्रय से ही साधक बन्धन से मुक्त होता और मुक्ति प्राप्त करता है।

तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते ।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत् समीक्ष्यते ॥२॥

जिस भूमि से मनुष्य स्खलित हो गिर पड़ता है, उसी भूमिका अव-लम्बन कर वह उठ पाता है। यह प्रत्यक्ष समीक्ष्य है।

नामरूपात्मकैर्भावैः बंध्यन्ते निखिला जनाः ।
अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक्-प्रकृति-वैभवात् ॥३॥

नाम रूपात्मक भावों से ही जीव बन्धनग्रस्त हो जाता है। नाम रूपात्मक प्रकृति के ऐश्वर्य से ही वह अविद्या से भी ग्रस्त होता है।

आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चानुसृत्य वै।
नाम-रूपात्मनोः शब्द-भावयोरवलम्बनात् ॥
यो योगः साध्यते सोयं मन्त्रयोगः प्रकीर्त्तितः ॥४॥

अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्तियों की गतियों के अनुरूप नाम मय शब्द और भावमय रूप इन दोनों के अवलम्बन से जिस योग का साधन किया जाता है, वह मन्त्रयोग कहलाता है।

श्रेयः सम्पादकत्वेन सर्वेषामधिकारिणाम्।
मन्त्रयोगः समाख्यातः सर्वजीवहितप्रदः ॥५॥

सभी प्रकार के अधिकारियों का कल्याण साधक होने के कारण मन्त्रयोग सभी जीवों के लिए हितकारी कहा गया है।

प्राधान्यात् पञ्चतत्त्वानां पञ्चधा प्रकृतिर्मता।
उपासना पञ्चविधा मन्त्रयोगस्य कथ्यते ॥६॥

सृष्टि में पञ्चतत्त्वों की प्रधानता के कारण मनुष्य की प्रकृति भी पाँच प्रकार की होती है। इसी आधार पर मन्त्रयोग की उपासना भी पाँच प्रकार की कही गयी है।

मानव प्रकृतेर्भेदात् पञ्चोपासनमुच्यते।
उपासनावताराणामत्रैवान्तर्भवत्यतः ॥७॥

मानव प्रकृति के भेद से पञ्चोपासना का सिद्धान्त शास्त्र में वर्णित है। अतएव अवतारों की उपासना भी इसके अन्तर्गत ही है।

उपासनं पञ्चविधं ब्रह्मोपासनमेव तत्।
निश्चितोऽयं मन्त्रयोगः वेदविज्ञान-सम्मतः ॥८॥

पञ्चोपासना ब्रह्मोपासना ही है। मन्त्रयोग वेद-विज्ञान सम्मत है।

अथ मन्त्रयोगविज्ञानम्

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत्स्पन्देन सव्यापकम्।
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सुविदितश्शब्दान्वयी सर्वदा ॥

सृष्टिश्चापि तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत्स्पन्दिनी ।
शब्दश्चोदभवत्तदा प्रणव इत्योङ्कार रूपः शिवः ॥१॥

जिस समय कोई कार्य होता है, वहाँ स्पन्दन सव्यापक होता है, अर्थात् स्पन्दन कार्य में व्याप्त रहता है। विना स्पन्दन के कार्य नहीं हो सकता। स्पन्दन भी शब्दान्वयी होता है। स्पन्द उत्पन्न होने के क्षण में शब्दोत्पत्ति अवश्यम्भावी है। सृष्टि भी एक क्रिया है, कार्य है और स्पन्दन वाली है। सृष्टि क्रिया का हिल्लोल शब्द रूप से व्यक्त होता है। प्रथम स्पन्द का प्रथम शब्द ही प्रणव है, ओङ्कार रूप है। वही शिव है।

साम्यस्थ-प्रकृतेर्यथैव विदितः शब्दो महानोमिति ।
ब्रह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवं ब्रह्मणः ॥
वैषम्ये प्रकृतेस्तथैव वहुधा शब्दाः श्रुताः कालतः ।
ते मन्त्राः समुपासनार्थमभवन् बीजानि नाम्ना तथा ॥२॥

तीनों गुणों की समता में प्रकृति की साम्यावस्था होती है। त्रिगुण साम्य के नष्ट होने पर उसकी वैषम्यावस्था प्रारम्भ हो जाती है। साम्यावस्था की प्रकृति का शब्द ब्रह्मा-विष्णु शिवात्मक ओङ्कार है। वैषम्यावस्था के स्पन्दनों से समुत्पन्न विभिन्न शब्द उपासना में बीज मन्त्र रूप से प्रयुक्त होते हैं।

जगति भवति सृष्टिः पञ्चभूतात्मिका यत् ।
तदिह निखिल सृष्टिः पञ्चभागैर्विभक्ता ॥
श्रुतिरपि विधिरूपेणादिशन्ती ह पञ्च ।
विविधविहितपूजारीतिभेदान् प्रमाणम् ॥३॥

सृष्टि पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न है। अतएव पाँच उपासना पद्धतियों का निर्देश करती है।

प्रकृतिमिह जनानां संपरीक्ष्य प्रवृत्तिं,
यदि गुरुरिह दद्यान्मन्त्रशिक्षां यथावत् ।
रुचिसमुचितदेवोपासनामादिशेद्वा,
व्रजति लघु स शिष्यो मोहपारं मुमुक्षुः ॥४॥

गुरु यदि शिष्यजनों की प्रवृत्तियों को और प्रकृति को देखकर, परीक्षा कर तदनुकूल मन्त्र की शिक्षा दे या रुचि के अनुकूल देवोपासना का आदेश दे, उपदेश दे, तो मुमुक्षु शिष्य शीघ्र ही मोह महार्णव को पार कर लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

आकारो न हि विद्यते किमपि वा रूपं पर ब्रह्मणो,
रूपं तत्परिकल्प्यते जनगणैः किञ्चिज्जगद्रूपिणः।
ध्यायद्भिर्निजवृत्तिमार्गचलितैर्देवं परं रूपिणं,
मन्त्रं वा सततं जपद्भिरिह तैर्मुक्तिः परा लभ्यते ॥५॥

पर ब्रह्म निराकार है। उसका कोई रूप नहीं है। साधकगण रूप रहित विराट् पुरुष के रूप की कल्पना, भावना शक्ति के द्वारा कर लेते हैं। अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार भगवद्रूप का ध्यान और बीज मन्त्रों के जप द्वारा शीघ्र ही परा मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

योगोऽयं परिकथ्यते क्रमयुतः सन्मन्त्रयोगस्थिरो,
योगः कर्मसु कौशलं निगदितं शास्त्रेषु विद्वद्वरैः।
ध्यायन् रूपविवर्जितस्य निखिलाधारस्य रूपं शुभम्,
देही भक्तिरतः प्रयाति परमां मुक्तिं शिवोपासकः ॥६॥

यही क्रम युक्त योग प्रणाली मन्त्रयोग कहलाती है। शास्त्रपारङ्गत विद्वान् कहते हैं कि कर्मों में कौशल ही योग है। भक्तिभावना से भरित हृदय से रूप रहित निराकार सर्वाधार परमेश्वर की रूप कल्पना कर ध्यान करता हुआ परम पद को तत्काल ही प्राप्त कर लेता है।

अथ साधन-प्रशंसा

प्राप्तं जीवैः पदमभयदं शाश्वतं मंत्रयोगैः
लब्धं ज्ञानं परममृतं साधनैस्साधकेन।
श्लाघ्यो योगो यमनुसरतो नास्ति कश्चित् विषादो
धन्यः योगी सुरनर गुरुर्ब्रह्मविद् ब्रह्मरूपः ॥१॥

मन्त्र योग साधन द्वारा जीव शाश्वत परमपद प्राप्त कर लेता है। साधक साधना के द्वारा परम अमृतमय ज्ञान प्राप्त करता है। यह शुभ योग अत्यन्त प्रशंसनीय है। इसका अनुसरण करने से सांसारिक प्रत्येक

विषाद नष्ट हो जाते हैं। मन्त्र योगी देवों और मानवों में भी श्रेष्ठ हो जाता है। ब्रह्मविद् योगी ब्रह्मरूप हो जाता है। वस्तुत वह योगी धन्य है।

दीक्षाप्रयोजनम्

दीक्षा मूलो जपस्सर्वो दीक्षामूलं परं तपः
सद्गुरोराहिता दीक्षा सर्वकर्माणि साधयेत् ॥१॥

दीक्षा समस्त जपों और तपश्चर्याओं की मूल है। सद्गुरुदेव से प्राप्त दीक्षा सभी सिद्धियों को, कर्मों को सिद्ध कर देती है।

अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जप-पूजादिकाः क्रियाः
न फलन्ति प्रिये तेषां शिलायामुप्त-बीजवत् ॥२॥

दीक्षा रहित साधक जप पूजा आदि जितनी क्रियायें करता है, वे उसी तरह नहीं फलवती होती हैं, जैसे वीज शिला पर वोने से नहीं जमता।

इह दीक्षा विहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ॥३॥

योग के इस स्तर में दीक्षा आवश्यक है। दीक्षा विहीन साधक की सिद्धि नहीं होती और न सद्गति ही होती है। इस लिये यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि, सभी प्रयत्न करके गुरु-दीक्षा प्राप्त कर लें।

श्रीगुरुमहिमा

यादृगस्तीह सम्बन्धः ब्रह्माण्डस्येश्वरेण वै।
तथा क्रियाख्ययोगस्य सम्बन्धो गुरुणा सह ॥१॥

ब्रह्माण्ड का ईश्वर से जैसा सम्बन्ध है, ठीक ऐसा ही सम्बन्ध क्रिया योग का गुरुदेव से है।

दीक्षाविधावीश्वरो वै कारणस्थलमुच्यते।
गुरुः कार्यस्थलं चातो गुरुर्ब्रह्म प्रगीयते ॥२॥

दीक्षा विधि में ईश्वर कारण और गुरु कार्य स्थल है। यही कारण है कि, गुरु को ब्रह्म मानते हैं।

गुरौ मानुषबुद्धिन्तु मन्त्रे चाक्षर-भावनाः।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत् ॥३॥

गुरु में मनुष्य बुद्धि, मन्त्र में अक्षर बुद्धि और प्रतिमाओं में प्रस्तर भावना रखने वाला नरक जाता है।

जन्महेतू हि पितरौ पूजनीयौ प्रयत्नतः।
गुर्विशेषतः पूज्यो धर्माधर्म–प्रदर्शकः ॥४॥

माता और पिता जन्म के कारण है। इस लिये प्रयत्नपूर्वक इनकी सेवा की जानी चाहिये। गुरु विशेष रूप से पूज्य है। धर्म और अधर्म (कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य, हेय और उपादेय आदि) का पथ प्रदर्शक गुरु ही है।

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गतिः।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥५॥

गुरु पिता के समान रक्षा करता है। माता भी वह है क्योंकि माँ के समान वात्सल्य देता है। वह दिव्य शक्ति सम्पन्न देव है और जीवन की गतिशीलता का प्रतीक है। शिव के रुष्ट होने पर साधक शिष्य की रक्षा गुरु कर लेता है पर गुरु के रुष्ट होने पर कोई रक्षा नहीं कर सकता।

सद्गुरुलक्षणम्

सर्वशास्त्रपरो दक्षः सर्वशास्त्रार्थवित् सदा।
सुवचाः सुन्दरः स्वङ्गः कुलीनः शुभ-दर्शनः ॥१॥

सद्गुरु सर्वशास्त्र पारङ्गत, दक्ष, सभी शास्त्रार्थ का ज्ञाता, मधुरभाषी सुन्दर सुडौल अङ्गों वाला, कुलीन और सदैव शुभ दर्शन होना चाहिये।

जितेन्द्रियः सत्यवादी ब्राह्मणः शान्तमानसः।
पितृमातृ हिते युक्तः सर्वकर्मपरायणः
आश्रमी देशवासी च गुरुरेवं विधीयते ॥२॥

जितेन्द्रिय सत्यवादो, ब्रह्मज्ञानी, शान्तमन, पिता माता के हित में रत, सभी कामों को सम्पन्न करने में समर्थ, चारों आश्रमों में किसी में व्रतनिष्ठ और अपने देश का नागरिक गुरु होना चाहिये।

आचार्य गुरुशब्दौ द्वौ सदा पर्यायवाचकौ ।
कश्चिदर्थगतो भेदः भवत्येवं तयोः क्वचित् ॥३॥

आचार्य और गुरु शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं। कहीं कहीं अर्थ गत भेद भी दोनों में दीख पड़ता है।

औपपत्तिकमंशन्तु धर्मशास्त्रस्य पण्डितः ।
व्याचष्टे धर्ममिच्छूनां स आचार्यः प्रकीर्त्तितः ॥४॥

धर्म शास्त्र के पारङ्गत विद्वान् जो धर्मतत्त्व के जिज्ञासु शिष्यों को उपपत्ति व्युत्पत्ति पूर्वक तत्त्वज्ञान का उपदेश करते हैं, आचार्य कहलाते हैं।

सर्वदर्शी तु यः साधुर्मुमुक्षूणां हिताय वै ।
व्याख्याय धर्मशास्त्रांशं क्रियासिद्धि-प्रबोधकम् ॥५॥

उपासनाविधेः सम्यक् ईश्वरस्य परात्मनः ।
भेदान् प्रशास्ति धर्मज्ञः स गुरुः समुदाहृतः ॥६॥

जो समदर्शी, साधु स्वभाव, मोक्ष की इच्छा वाले शिष्यों के कल्याण के लिये धर्मशास्त्रों की क्रियासिद्धि-बोधक व्याख्या करता है, साथ ही साथ परमात्मा परमेश्वर की उपासना विधियों की सम्यक् व्याख्या कर भेदों प्रभेदों का आशंसन करता है; वही गुरु है।

सप्तानां ज्ञानभूमीनां शास्त्रोक्तानां विशेषतः ।
प्रभेदान् यो विजानाति निगमस्यागमस्य च ॥७॥

ज्ञानस्याधिकारांस्त्रीन् भावतात्पर्यलक्ष्यतः ।
तन्त्रेषु च पुराणेषु भाषायास्त्रिविधां सृतिम् ॥८॥

सम्यग् भेदै विजानाति भाषा - तत्त्वविशारदः ।
निपुणो लोक-शिक्षायां श्रेष्ठाचार्यः स उच्यते ॥९॥

शास्त्र में बतलायी गयीं ज्ञान की ७ विशिष्ट भूमियों, नियमों और आगमों के भेदों को जो विशिष्ट प्रकार से जानता है ॥७॥

अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवभाव और तात्पर्य लक्ष्य (रहस्य) सहित ज्ञान के तीन अधिकारों को, तन्त्रों और पुराणों में प्रयुक्त भाषा की तीन विधाओं (समाधि, लौकिक और परकीय) को ॥८॥

भेद पूर्वक जो जानता है, भाषा तत्त्व शास्त्र का विशारद है, लोक-शिक्षा में जो निपुण है—वह श्रेष्ठ आचार्य है ॥९॥

पञ्चतत्त्व-विभेदज्ञः पञ्चभेदान् विशेषतः ।
सगुणोपासनां यस्तु सम्यक् जानाति कोविदः ॥१०॥

चतुष्टयेन भेदेन ब्रह्मणः समुपासनम् ।
गम्भीरार्थां विजानीते बुधो निर्मलमानसः ॥११॥

पाँचों तत्त्वों के विभेद का ज्ञाता, विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य की सगुण पञ्चोपासना के सिद्धान्तों के रहस्यों का ज्ञाता, राज, मन्त्र, लय और हठयोगों की निर्गुणोपासना के चारों भेदों का ज्ञाता निर्मल मन वाला विद्वान् ही इन गंभीर अर्थतत्त्वों को विशेष रूप से जानता है।

सर्वकार्येषु निपुणो जीवन्मुक्तो त्रितापहृत् ।
करोति जीवकल्याणं गुरुः श्रेष्ठः स कथ्यते ॥

समस्त धर्म कार्यों के सम्पादन में दक्ष, जीवन्मुक्त, जागतिक तीनों तापों का हर्त्ता, स्वयं त्रिताप-रहित निर्मल चेता महापुरुष ही जीवों के कल्याण में सक्षम है और वही श्रेष्ठ गुरु है।

शिष्यलक्षणम्

अलुब्धः स्थिर-गात्रश्च आज्ञाकारो जितेन्द्रियः ।
आस्तिको दृढ़भक्तश्च गुरौ मन्त्रे च दैवते ।
एवम्विधो भवेच्छिष्य इतरो दुःखकृद् गुरोः ॥१॥

लोभ रहित, दृढ़ शरीर वाला, आज्ञाकारी, इन्द्रियों को जीतकर नियन्त्रण में रहने वाला, ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखने वाला, भक्ति में दृढ़ भाव वाला, गुरु, मन्त्र और देवता में पूर्ण भक्ति श्रद्धा और आस्था रखने वाला शिष्य होना चाहिये। इसके विपरीत व्यवहार और आचरण करने वाला शिष्य गुरु के दुःख का ही कारण बनता है।

निन्द्य-गुरुलक्षणम्

श्वित्री चैव गलत्कुष्ठी नेत्ररोगी च वामनः ।
कुनखः श्यावदन्तश्च स्त्रीजितो ह्यधिकाङ्गकः ॥१॥

हीनाङ्गः कपटी रोगी बह्वाशी बहुजल्पकः ।
एतैर्दोषैर्विमुक्तो यः स गुरुः शिष्य-सम्मतः ॥२॥

चरक (श्वेत कुष्ठ) रोगी, गलित कुष्ठ रोगी, नेत्र रोगी, बौना, विकृत नख वाला, विकार युक्त दाँतों वाला, स्त्री के वशीभूत रहने वाला पत्नी-भक्त, अधिक अङ्गों वाला, हीन अङ्गों वाला, कपटी, अन्य प्रकार के रोगों से ग्रस्त, बहुभोजी और बकवादी व्यक्ति गुरु पद के योग्य नहीं है। ये ऊपर कहे गये भयङ्कर दोष हैं। इन दोषों से रहित पुरुष ही गुरु बनने के योग्य है। वही शिष्य के उपयुक्त भी हो सकता है।

दीक्षाविवरणम्

कुलाकुलं नाम चक्रं राशिचक्रं तथैव च ।
नक्षत्राकथहं चक्रम् अकडमं चक्रमीरितम् ॥१॥

दीक्षा के पूर्व कुलाकुल अर्थात् देवतोद्धार, नाम, राशि, नक्षत्र चक्रों का विचार आवश्यक है। साथ ही 'अ क थ ह' तथा 'अ क ड म' चक्रों का विचार कर गुरु, शिष्य और मन्त्रों की अनुकूलता का विचार अनिवार्य है।

तत्र चेन्निर्गुणो मन्त्रो नान्य चक्रं विचिन्तयेत् ।
तथा च धनिमन्त्रं न गृह्णीयात् यत्प्रयोजनम् ॥२॥

दीक्षा विधि में निर्गुण मन्त्र की दीक्षा के प्रसङ्ग में किसी चक्र-विचार की आवश्यकता नहीं। प्रवृत्ति मार्गीय मन्त्रों के द्वारा कल्याण साधनार्थी शिष्यों को प्रयोजन के अनुसार ऋणी और धनी मन्त्रों की अपेक्षा होती है।

गुरुर्दीक्षा-पूर्व-दिने स्वशिष्यमभिमन्त्रयेत् ।
दर्भ-शय्यां परिष्कृत्य शिष्यं तत्र निवेशयेत् ॥३॥

गुरु दीक्षा के पहले दिन अपने शिष्य को अभिमन्त्रित करना चाहिये। कुश का शयनीय बनाकर शिष्य को उसी पर सुलाना बैठाना चाहिये।

स्वापमन्त्रेण मन्त्रज्ञः शिखां तस्य प्रबन्धयेत् ।
तन्मन्त्रं स्वाप-समये पठेद्वारत्रयं शिशुः ॥४॥

मन्त्र शास्त्र के विशेषज्ञ गुरु सोने के समय निद्रामन्त्र से उसकी शिखा में ग्रंथि दिलवायें। शिष्य उस मन्त्र का तीन बार पाठ करने के उपरान्त शयन करे।

श्रीगुरोः पादुके ध्यात्वा तूपवासी जितेन्द्रियः।

शयन के समय गुरुदेव के चरणों का ध्यान आवश्यक है। उस दिन शिष्य को उपवास का व्रत रखना चाहिये। इन्द्रियों पर विजय रखना आवश्यक है।

नमो जय त्रिनेत्राय पिङ्गलाय महात्मने ॥५॥
रामाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः॥

स्वप्ने कथय मे तथ्यं सर्व-कार्येष्वशेषतः॥६।
क्रियासिद्धिं विधास्यामि त्वत्प्रसादान्महेश्वर।

यही निद्रा मन्त्र हैः—हे निद्रा शक्ति के अधिष्ठाता देवदेव आपकी जय हो! आपके तीन नेत्र हैं। आपका वर्ण पिङ्गल है। आप सर्वत्र रमण करते हैं। विश्वरूप हैं। आप स्वप्न के अधिपति हैं। हे! देव देव! आपकी कृपा से मैं क्रिया सिद्धि में प्रवृत्त हो रहा हूँ। स्वप्न में सारे कार्यों के सम्बन्ध में आप हमें निर्देश करें। तथ्य का उद्घाटन करें।

स्वप्ने शुभाशुभं दृष्टं पृच्छेत्प्रातः शिशुं गुरुः॥७॥
कन्यां छत्रं रथं दीपं प्रासादं कमलं नदीम्।
कुञ्जरं वृषभं माल्यं समुद्रं फलिनं द्रुमम्॥८॥
पर्वतं तुरगं मेध्यमाममांसं सुरासवम्।
एवमादीनि सर्वाणि दृष्ट्वा सिद्धिमवाप्नुयात्॥९॥

प्रातः काल गुरु शिष्य से स्वप्न में दीख पड़ने वाले पदार्थों के विषय में पूछे। कन्या, छत्र, रथ, दीप राजमहल कमल, नदी, हाथी, बैल, माला, समुद्र, फलीवृक्ष, पर्वत, अश्व, हवनीय, कच्चा मांस, शराब और औषध सेवनीय आसव आदि शुभ पदार्थ हैं। इनका स्वप्न होने पर अवश्य ही दीक्षा विधि सिद्ध होती है।

वर्षेणैकेन योग्यः स्याद् विप्रोगुण-समन्वितः।
वर्षद्वयेन राजन्यः वैश्यस्तु वत्सरैस्त्रिभिः॥१०॥

चतुर्भिःर्वत्सरैश्शूद्रः कथिता शिष्ययोग्यता ।
तथा गुरुश्च स्वाधीनः सर्वशक्तियुतो विभुः ॥११॥

यदि भाग्यवशेनैव सिद्धो हि पुरुषो मिलेत् ।
तदैव दीक्षां गृह्णीयात् त्यक्त-काल विचारणाम् ॥१२॥

विप्र संस्कार सम्पन्न साधक शिष्य एक वर्ष की साधना से ही योग्यता प्राप्त कर लेता है । शिष्य की गुणवत्ता से समन्वित हो जाता है । क्षत्रिय शिष्य दो वर्षों में वैश्य तीन वर्षों में और शूद्र चार वर्षों में योग्य होते हैं । गुरु सभी शक्तियों से सम्पन्न, विभुता से भूषित, साधना के बल पर स्वातन्त्र्य शक्ति को प्राप्त होना चाहिये । ऐसे गुरु की प्राप्ति हो जाय, तो बिना समय आदि का विचार किये ही तुरंत दीक्षा ले लेनी चाहिये ।

दीक्षोपयोगी कालः देशश्च

(दीक्षा विवरणम्)

[मास निर्णयः]

(१)

मन्त्रारम्भस्तु चैत्रे स्यात् समस्तपुरुषार्थदः ।
वैशाखे रत्नलाभः स्याज्ज्येष्ठे च मरणं भवेत् ॥१॥

आषाढे बन्धुनाशः स्यात् पूर्णायुः श्रावणे भवेत् ।
प्रजानाशो भवेद्भाद्रे आश्विने रत्नसञ्चयः ॥२॥

चैत्र में दीक्षा ग्रहण करने से सभी पुरुषार्थों की सिद्धि होती है । वैशाख में रत्नका लाभ होता है और ज्येष्ठ को दीक्षा मृत्युप्रद होती है । आषाढ़ भी दीक्षा में वर्जित मास है । इसमें दीक्षित होने से बन्धुओं का नाश होता है । श्रावण में दीर्घायुष्य मिलता है, भाद्रपद में दीक्षा का फल प्रजा नाश है । आश्विन मास अच्छा है । इसमें दीक्षा लेने से रत्नों का संचय होता है ।

कार्त्तिके मन्त्रसिद्धिः स्यात् मार्गशीर्षे तथा भवेत् ।
पौषे तु शत्रुपीडा स्यात् माघे मेधा-विवर्द्धनम् ॥३॥
फाल्गुने सर्वकामास्स्युर्मलमासं विवर्जयेत् ॥४॥

कार्त्तिक में दीक्षा लेने से मन्त्र सिद्धि होती है। अगहन का महीना भी इसके लिए लाभप्रद है। पौष मास में दीक्षा से शत्रु पीड़ा तथा माघ में दीक्षा मेधा को बढ़ाने वाली होती है। फाल्गुन में दीक्षा लेने से सभी कार्यों की सिद्धि होती है। दीक्षा कभी भी पुरुषोत्तम मास (मलमास) में नहीं लेनी चाहिये।

वारनिर्णयः

(२)

रविवारे भवेद्वित्तं सोमे शान्तिर्भवेत् किल।
आयुरङ्गारके हन्ति तत्र दीक्षां विवर्जयेत् ॥५॥

रविवार में दीक्षा से वित्त, सोम में शान्ति मङ्गल में आयु नाश होता है। अतः मङ्गल में दीक्षा वर्जित है।

बुधे सौन्दर्यमाप्नोति ज्ञानं स्यात्तु वृहस्पतौ।
शुक्रे सौभाग्यमाप्नोति यशोहानिश्शनैश्चरे ॥६॥

वुध में दीक्षा से सौन्दर्य, गुरुवार में ज्ञान, शुक्र में दीक्षा से सौभाग्य की प्राप्ति होती है। शनिवार वर्जित हैं। क्योंकि इसमें दीक्षा से यश की हानि होती है।

तिथिनिर्णयः

प्रतिपद्विहिता दीक्षा ज्ञाननाशकरी मता।
द्वितीयायां भवेज्ज्ञानं तृतीयायां शुचिर्भवेत् ॥७॥

चतुर्थ्यां वित्तनाशः स्यात् पञ्चम्यां बुद्धिवर्द्धनम्।
षष्ठ्यां ज्ञानक्षयः सौख्यं लभते सप्तमी-तिथौ ॥८॥

अष्टम्यां बुद्धिनाशस्स्यान्नवम्यां वपुषः क्षयः।
दशम्यां राज-सौभाग्यमेकादश्यां शुचिर्भवेत् ॥९॥

द्वादश्यां सर्वसिद्धिः स्यात् त्रयोदश्यां दरिद्रता।
तिर्यग्योनिश्चतुर्दश्यां हानिर्मासावसानके ॥१०॥

पक्षान्ते धर्मवृद्धिस्स्यादस्वाध्यायं विवर्जयेत्।
सन्ध्यागर्जितनिर्घोषभूकम्पोल्कानिपातने ॥११॥
एतानन्यांश्च दिवसान् श्रुत्युक्तान् परिवर्ज्जयेत् ॥१२॥

प्रतिपदा को दी गयी दीक्षा ज्ञान का नाश करने वाली होती है। द्वितीया को प्राप्त दीक्षा से ज्ञान होता है। तृतीया तिथि की दीक्षा से दीक्ष्य पवित्र हो जाता है ॥७॥ चतुर्थी तिथि में वित्त का नाश होता है। पंचमी में दीक्षा से बुद्धि का वर्द्धन होता है। षष्ठी में ज्ञान का नाश होता है। सप्तमी तिथि में दीक्षित शिष्य को सौख्य की प्राप्ति होती है ॥८॥ अष्टमी में बुद्धि का नाश होता है। नवमी में शरीर का क्षय होता है। दशमी में राज्य-सौभाग्य भोग उपलब्ध होते हैं। एकादशी को शुचिता प्राप्त होती है। द्वादशी में शिष्य सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर सिद्ध हो जाता है। त्रयोदशी में दरिद्रता आती है। चतुर्दशी में दीक्षा लेने से तिर्यक् योनि अर्थात् पशु-पक्षियों की योनि प्राप्त होती है। मास के अन्त अर्थात् आमावस्या को दीक्षा लेने से हानि होती है ॥१०॥ पक्ष के अन्त में धर्म की वृद्धि होती है। दीक्षा में वह तिथि विशेष रूप से वर्जित है, जिसमें वेद का स्वाध्याय नहीं होता अर्थात् जिस दिन अनध्याय होता है। सन्ध्या का समय, मेघ गर्जन से परिपूर्ण घोष (गड़गड़ाहट) वाला दिन, भूकम्प, उल्कपात और अन्य शास्त्र में जिनका निषेध हो, ऐसे दिवस भी दीक्षा विधि में वर्जित हैं।

नक्षत्रनिर्णयः

(३)

अश्विन्यां सुखमाप्नोति भरण्यां भरणं ध्रुवम्।
कृत्तिकायां भवेद् दुःखो रोहिण्यां वाक्पतिर्भवेत् ॥१३॥

अश्विनी नक्षत्र में दीक्षा लेने से सुख की प्राप्ति होती है। भरणी नक्षत्र की दीक्षा से निश्चित मृत्यु हो जाती है। कृत्तिका नक्षत्र की दीक्षा से दीक्षित शिष्य दुःखी होता है। रोहिणी नक्षत्र में दीक्षा लेने से शिष्य वाणी का पति हो जाता है। अर्थात् वाग्देवी उसके लिये रहस्य का अनावरण कर देती है।

मृगशीर्षे सुखावाप्तिरार्द्रायां बन्धुनाशनम्।
पुनर्वसौ धनाढ्यः स्यात्पुष्ये शत्रुविनाशनम् ॥१४॥

मृगशिरा नक्षत्र में सुख की प्राप्ति और आर्द्रा नक्षत्र में दीक्षा लेने से बन्धुनाश होता है। पुनर्वसु नक्षत्र में शिष्य यदि दीक्षित हो, तो वह धनाढ्य हो जाता है। पुष्य नक्षत्र में दीक्षा लेने से शत्रुओं का विशेष रूप से नाश होता है।

आश्लेषायां भवेन्मृत्युः मघायां दुःखमोचनम् ।
सौन्दर्यं पूर्वफाल्गुन्यां प्राप्नोति च न संशयः ॥१५॥

आश्लेषा नक्षत्र में दीक्षा लेने से मृत्यु होती है। मघा में दुःखों से छुटकारा मिलता है। पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र में सौन्दर्य की वृद्धि होती है। इसमें सन्देह का लेशमात्र भी नहीं है।

ज्ञानं चोत्तरफाल्गुन्यां हस्तर्क्षे च धनी भवेत् ।
चित्रायां ज्ञानसिद्धिः स्यात् स्वात्यां शत्रुविनाशनम् ॥१६॥

उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ज्ञान की प्राप्ति होती है। हस्त नक्षत्र में दीक्षा लेने से धनी होता है। चित्रा नक्षत्र में ज्ञान की सिद्धि होती है और स्वाती में शत्रु का विनाश होता है।

विशाखायां सुखं चैवानुराधा बन्धु-वर्द्धिनी ।
ज्येष्ठायां सुतहानिस्स्यान्मूलर्क्षे कीर्त्तिवर्द्धनम् ॥१७॥

विशाखा में सुख, अनुराधा में बन्धुओं की वृद्धि, ज्येष्ठा में पुत्र का नाश और मूलक्षत्र में यश बढ़ता है।

पूर्वाषाढोत्तराषाढे भवेतां कीर्तिदायिके।
श्रवणायां भवेद् दुःखी धनिष्ठायां दरिद्रता ॥१८॥

पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा नक्षत्रों में दीक्षा उत्तम होती है। ये दोनों नक्षत्र यशोवर्द्धक होते हैं। श्रवण नक्षत्र में दीक्षा से दुःखी होता है। धनिष्ठा में दीक्षा लेने से दरिद्रता होती है।

बुद्धिः शतभिषायां स्यात् पूर्वभाद्रे सुखी भवेत् ।
सौख्यं चोत्तरभाद्रे च रेवत्यां कीर्त्तिवर्द्धनम् ॥१९॥

शतभिषा नक्षत्र में दीक्षा से बुद्धि प्राप्त होती है। पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र में सौख्य और उत्तराभाद्रपद में भी सुख-सौख्य मिलता है। रेवती नक्षत्र में कीर्त्ति की वृद्धि होती है।

योगनिर्णयः

योगाःस्यु प्रीतिरायुष्मान् सौभाग्यशोभनो घृतिः ।
वृद्धिः ध्रुवः सुकर्मा च साध्यः शुक्लश्च हर्षणः
वरीयाँश्च शिवः सिद्धो ब्रह्मा इन्द्रश्चषोडश ॥२०-२१॥

प्रीति, आयुष्मान्, सौभाग्य शोभन, धृति, वृद्धि, ध्रुव, सुकर्मा, साध्य शुक्ल और हर्षण। वरीयान् शिव, सिद्ध, ब्रह्मा और इन्द्र इन १६ सोलह योगों में दीक्षा ग्रहण करने से दीक्षा सफल होती है।

करणनिर्णयः

बव-बालव-कौलव-तैतिल वणिजस्तु पञ्च।
करणानि शुभान्येव सर्वतन्त्रेषु भाषितम् ॥२२॥

बव, बालव, कौलव, तैतिल, और वणिज इन पाँचों करणों में दीक्षा ग्रहण करना मङ्गलमय होता है। यह सर्वशास्त्र सम्मत सिद्धान्त है।

लग्ननिर्णयः

वृषे सिंहे च कन्यायां धनुर्मीनाख्यलग्नके।
चन्द्रतारानुकूल्ये च कुर्याद्दीक्षा-प्रवर्त्तनम् ॥२३॥

वृष, सिंह, कन्या, धनु और मीन इन पाँच लग्नों में तथा चन्द्रमा और तारा का विचार करके ही दीक्षा का प्रवर्त्तन करना चाहिये।

स्थिर-लग्नं विष्णुमन्त्रे शिवमन्त्रे चरं शुभम्।
द्विस्वभावगतं लग्नं शक्तिमन्त्रे प्रशस्यते ॥२४॥

विष्णुमन्त्र की दीक्षा लेने के समय स्थिर (१-वृष सिंह वृश्चिक और कुम्भ) लग्न रहना चाहिये। शिवमन्त्र की दीक्षा में चर (२—मेष, कर्क, तुला मकर।) लग्न शुभ होता है। शक्तिमन्त्र की दीक्षा के लिए ३—मिथुन, कन्या, धनु और मीन। द्विस्वभाव से युक्त लग्न प्रशस्त होता है।

त्रिषडायगताः पापाः शुभाः केन्द्रत्रिकोणगाः।
दीक्षायां तु शुभाः सर्वे वक्रस्थाः सर्वनाशकाः ॥२५॥

लग्न से तीसरे छठें और ग्यारहवें स्थान में पापग्रह तथा लग्न, लग्न से चौथे, सातवें दसवें, नवें और पाँचवें स्थान में शुभग्रह अवस्थित रहने पर दीक्षा दान उचित है। सभी वक्र ग्रह दीक्षा में सर्वनाश करने वाले होते हैं। अतएव सर्वथा परित्याज्य हैं।

पक्ष निर्णयः

शुक्ले पक्षे शुभा दीक्षा, कृष्णेप्यापंचमाद्दिनात् ।
भोगकामैः शुक्लपक्षे मुक्तिकामैश्शुभं परे ॥२६॥
निन्दितेष्वपि मासेषु दीक्षोक्ता ग्रहणे शुभा ।
सूर्यं ग्रहणकालस्य समानो नास्ति भूतले ॥२७॥

दीक्षा शुक्लपक्ष में शुभ होती है। कृष्णपक्षके अन्तिम पाँच दिनके पहले अर्थात् प्रतिपद से नवमी पर्यन्त दीक्षा प्रवर्त्तन शुभावह होता है। भोग कामी प्रवृत्ति मार्गी शिष्योंकी दीक्षा शुक्ल पक्षमें तथा निवृत्ति मार्गी मुक्ति चाहने वाले साधकोंकी दीक्षा कृष्णपक्षमें उचित है।

निन्दित मासों में भी यदि ग्रहण लगता हो, तो उसमें दीक्षा शुभ है। सूर्य ग्रहण के सदृश दीक्षोपयोगी कोई समय इस भूतल पर नहीं है।

दीक्षास्थाननिर्णयः

गोशालायां गुरोर्गेहे देवागारे च कानने ।
पुण्य क्षेत्रे तथोद्याने नदीतीरे च दीक्षणम् ॥२८॥

गोशाला, गुरुवर निवास, मन्दिर या देव स्थान, कानन तीर्थ क्षेत्र, उद्यान और नदी का तट इतने स्थान दीक्षा के लिए नितान्त उपयोगी हैं।

धात्री बिल्वसमीपे च पर्वताग्रे गुहासु च ।
गंगायाश्च तटे वापि दीक्षा कोटिगुणा भवेत् ॥२९॥

आँवला या बिल्व वृक्ष के समीप, पर्वत शिखर या गुफा, गंगा का किनारा ये स्थान दीक्षा के लिये कोटिगुना फलदायक हैं।

अथवा गुरुरेवास्य दीक्षयेद्यत्र तच्छुभम् ।
गुरोः परतरं नास्ति तद्वाक्यं श्रुति-सन्निभम् ॥३०॥

अथवा स्वयं गुरुदेव ही दीक्षाके लिये जिस स्थान का निर्वाचन कर वहाँ दीक्षा देने की कृपा करें, वही स्थान शुभ है। गुरुदेवसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। उसके आदेश वचन वेदाज्ञा के समान ही स्वीकार्य है।

अथमन्त्रनिर्णयविधिः

ऋतम्भरधिया वापि नानाचक्र-सहायतः ।
मन्त्रानाशु विनर्णीय शिष्यानुपदिशन्ति ते ॥१॥

ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा अथवा विविध चक्रोंकी सहायतासे मन्त्रों-का तुरत निर्णय करके गुरुदेव शिष्योंको मन्त्र प्रदान करते हैं ।

एकाक्षराः सेतुयुक्ताः मन्त्राश्चाप्यधिकाक्षराः ।
शाखापल्लव-संयुक्ताः निर्णेयास्ते विचारतः ॥२॥

मन्त्र एकाक्षर, अधिकाक्षर, सेतुसे युक्त, शाखा-पल्लवसे संयुक्त आदि अनेक प्रकारके होते हैं। विचारपूर्वक इन मन्त्रोंका निर्णय करना चाहिये ।

चक्रं कुलाकुलं नाम राशिनक्षत्रचक्रकम् ।
एवमाद्यानि साहाय्यं कुर्वन्ति ह्युपदेशने ॥३॥

कुलाकुल नामक चक्र, राशिचक्र, नक्षत्र चक्र इत्यादि अनेक चक्रोंका विचार दीक्षाविधानमें सहायक होते हैं ।

अपेक्षितानि चक्राणि निखिलान्यपि कुत्रचित् ।
क्वचिदेकमिति ज्ञेयं गुरुभिर्योगपारगैः ॥४॥

अवसर विशेष के लिये कोई अपेक्षित चक्र तथा किसी विशेष अवसर के लिये सारे चक्र अथवा एक चक्र ही अपेक्षित चक्र अथवा एक चक्र ही अपेक्षित होते हैं । योगशास्त्र में पारङ्गत विद्वान् गुरुदेव ही इस ज्ञातव्य ज्ञान का प्रकाशन करते हैं ।

कुलाकुलचक्रम्

कुलाकुलस्य भेदो हि प्रोच्यते मन्त्रिणामिह ।
वाय्वग्निभूजलाकाशाः पञ्चाशल्लिपयः क्रमात् ॥५॥

पञ्चह्रस्वाः पञ्चदीर्घाः विन्द्वन्ताः सन्धिसम्भवाः ।
कादयः पञ्चशः षक्षलसहान्ताः प्रकीर्त्तिताः ॥६॥

मन्त्रशास्त्र विशारद योगियों द्वारा निश्चित आविष्कृत कुलाकुल भेद यहाँ प्रस्तुत है । ५ ह्रस्व ५ दीर्घ ५ विन्द्वन्त ५ सन्धि सम्भव अक्षर ५ कवर्गादि पचीस अक्षर ष क्ष अः (५)स और ह ये वर्णमालाके ५० अक्षर वायु, अग्नि, भू, जल और आकाश रूप हैं ।

अ आ ए क च ट त प य षाः मारुताः ।
इ ई ऐ ख छ ठ थ फ र क्षाः आग्नेयाः ।
उ ऊ ओ ग ज ड द व ल लाः पार्थिवाः ।
ऋ ॠ औ घ झ द ध भ व साः वारुणाः ।
ऌ ॡ अं ङ ञ ण न म श हाः नाभसाः ॥७॥

१—अ आ ए क च ट त प य और मूर्धन्य ष ये वायुसे सम्बन्धित होने के कारण मारुतवर्ण कहलाते हैं ।

२—इ ई ऐ ख छ ठ थ फ र और क्ष ये वर्ण अग्नि रूप होने के कारण आग्नेय कहलाते हैं ।

३—उ ऊ ओ ग ज ड द ब ल और ल ये वर्ण पृथ्वी प्रधान तत्त्व वाले हैं । अतः इन्हें पार्थिव कहते हैं ।

४—ऋ ॠ औ घ झ ढ ध भ व और स ये वरुण प्रधान वर्ण हैं । इसलिये इन्हें वारुण अर्थात् वरुण देवके वर्ण कहते हैं ।

५—ऌ ॡ अं ङ ञ ण न म श और ह ये अक्षर नाभस अर्थात् आकाश तत्त्व प्रधान वर्ण कहते हैं ।

इसे इस चक्रके द्वारा समझा जा सकता है :—

मारुताः	आग्नेयाः	पार्थिवाः	वारुणाः	नाभसाः
अ	इ	उ	ऋ	ऌ
आ	ई	ऊ	ॠ	ॡ
ए	ऐ	ओ	औ	अं
क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ल	व	श
ष	क्ष	अः	स	ह

साधकस्याक्षरं पूर्वं मन्त्रस्यापि तदक्षरम् ।
यद्येक-भूतदैवत्यम् जानीयात् स्वकुलं हि तत् ॥८॥

साधकके नामका पहला अक्षर और मन्त्रका पहला अक्षर यदि समान हो अर्थात् पञ्चमहाभूतोंके उक्त चक्रके एक कोष्ठकमें आते हैं, तो उसे अपने कुलका ही जानना चाहिये।

भौमस्य वारुणं मित्रम् आग्नेयस्यापि मारुतम् ।
मारुतं पार्थिवानाञ्च आग्नेयं चाम्भसांरिपुः ॥९॥

पार्थिव वर्णोंके वारुण अक्षर मित्र होते हैं। आग्नेय वर्णोंके मारुत वर्ण मित्र होते हैं। पार्थिव वर्णोका मारुत वर्ण शत्रु होता है। पार्थिवानां च इस पाठ में 'च' के बल से यह अर्थ निकलता है कि, पार्थिव वर्णोंके आग्नेय वर्ण भी शत्रु होते हैं। वारुण वर्णोंके शत्रु आग्नेय वर्ण होते हैं।

नाभसं सर्वमित्रं स्याद्विरुद्धं नैव शीलयेत् ॥१०॥

आकाशीय वर्ण सभी शेष भूतवर्णों के मित्र होते हैं। दीक्षा के प्रसङ्गमें यह शत्रु मित्र भाव अवश्य ध्यान योग्य है। इसके विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिये।

गुह्यातिगुह्यविषयास्तत्त्वज्ञानं विशेषतः ।
मन्त्राणां चानुकूलानां तत्त्वज्ञानेन निर्णयः ॥११॥

मन्त्र शास्त्रमें गुह्य (रहस्य) और अतिगुह्य विषयोंका वर्णन किया गया है। विशेष रूपसे तत्त्वज्ञान यहाँ वर्णित है। दीक्षा के प्रकरणमें मन्त्र निर्णयके प्रसङ्गमें अनुकूल मंत्रका निर्णय तत्त्वज्ञान से होता है।

कुलाकुलाख्यचक्रेण तत्त्वज्ञानं प्रजायते ।
अतः कुलाकुलं चक्रं सिद्धिदायि प्रकीर्त्तितम् ॥१२॥

इस कुलाकुल चक्रसे वर्ण मन्त्र दीक्षा विषयक तत्त्वज्ञान होता है। इसलिये मन्त्रयोग शास्त्रमें इसे सिद्धिप्रद कहा जाता है।

तन्त्रान्तरोक्त कुलाकुलचक्र विज्ञानम्

पञ्चभूताज्जगत्सृष्टं पञ्चदेवा हि मानवैः ।
पूज्यन्ते तद्रहस्यं तु ज्ञायते योग-पारगैः ॥१३॥

सृष्टि पञ्चभूतात्मक है। अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन तत्त्वोंसे सृष्टिका निर्माण हुआ है। इसी आधार पर मनुष्योंके लिए पञ्चदेवोपासना विहित है। मनुष्य इन्हीं में से किसी एक की पूजा करता है। इसका रहस्य मन्त्रशास्त्र पारङ्गत विद्वान् सम्यक् प्रकारसे जानते हैं।

पञ्चतत्त्वरहस्यानि प्रकाशयति तत्त्वतः ।
अतः कुलाकुलं चक्रं परमं मङ्गलं स्मृतम् ॥१४॥

पञ्चतत्त्वके रहस्योंको तत्त्वज्ञानपूर्वक प्रकाशित करता है। अतः कुलाकुल चक्र परममङ्गलमय माना जाता है।

मन्त्राणां देवतानाञ्च कुलनिर्णयकारकम् ।
पाञ्चभौतिक शक्तेर्हि भेदान्मन्त्रविनिर्णयः ॥१५॥

कुलाकुल चक्रके द्वारा मन्त्रों और देवताओंके कुलका निर्णय किया जाता है। पाञ्चभौतिक शक्तिके तारतम्यके अनुसार मन्त्रका भेदपूर्व निर्णय होता है।

पञ्चाधिकारभेदेन चोपासन-विनिश्चयः ।
चक्रेणैतेन सिद्धयन्ति तस्मादेतच्छुभावहम् ॥१६॥

पञ्चदेवात्मक अधिकार भेदसे उपासनाके अधिकारका निर्णय भी इसी चक्रसे होता है। अतएव, यह सिद्ध सिद्ध है कि, यह चक्र अत्यन्त शुभावह है।

राशिचक्रविज्ञानम्

रेखाद्वयं पूर्वपरेण कुर्यात्
तन्मध्यतो याम्य-कुबेर-भेदात् ।
ऐशान्यमारभ्य निशाचरान्तं
कुर्याद्धि रेखामनिलाऽनलान्तः ॥१७॥

सर्वप्रथम पूर्व और पश्चिम दिशाकी ओर ऊपर नीचे दो रेखायें खींचनी चाहिये। फिर उनके बीच उतनी दूरी पर ही उत्तर दक्षिणकी ओर दो रेखायें खींचनी आवश्यक है। पुनः ईशान नैऋत्य तथा अग्नि वायव्य कोणोंको छूती हुई चार रेखायें खींचकर मध्यको ज्यों का त्यों छोड़ देने पर १२ स्थान बन जाते हैं।

वेदाग्निवह्नि युगल श्रवणाक्षिपञ्च
पञ्चेषुबाणशरवेदमितादिवर्णान् ।

मेषादिराशिभवनेषु लिखेच्च सर्वान्
कन्या गृहे प्रविलिखेदथ शादिवर्णान् ॥१८॥

मेष राशिके क्रमसे सभी १२ घरोंमें वर्ण स्थापन करना चाहिये। मेषके घर में चार वृषके गृहमें ३ मिथुनमें तीन, कर्कमें दो, सिंहमें दो, कन्यामें दो, तुलामें ५, वृश्चिकके गृहमें ५, धनुमें ५, मकरमें ५, कुम्भमें ५ मीनमें चार एवम् अवशिष्ट शकार आदि वर्ण कन्या राशिके गृहमें लिख लेना चाहिये। यही अकारादि क्रमसे वर्ण संस्थापनका विधान ही एक नये चक्रको जन्म देता है। इसे राशि चक्र कहते हैं।

राशिचक्रम्

वृष उ ऊ ऋ	मेष अ आ इ ई	मीन य र ल व
मिथुन ॠ ऌ ॡ		कुम्भ पवर्ग
कर्क ए ऐ	राशिचक्रम्	मकर त वर्ग
सिंह ओ औ	तुला क वर्ग कखगघङ	धन टवर्ग
कन्या अं अः वर्ग शषसहस		वृश्चिक चवर्ग

राशीनां शुद्धता ज्ञेया त्यजेच्छत्रुं मृतिं व्ययम्।
स्व राशेर्मन्त्रराश्यन्तं गणनीयं विचक्षणैः ॥१९॥
तेन मन्त्राद्यवर्णेन नाम्नश्चाद्यक्षरेण च
गणयेद्यदि षष्ठो वाप्यष्टमो द्वादशस्तु वा ॥२०॥
रिपुर्मन्त्राद्यवर्णः स्यात्तेन तस्याहितं भवेत्।
लग्नं धनं भ्रातृबन्धु पुत्रशत्रुकलत्रकम् ॥२१॥
मरणं धर्मकर्माय व्यया द्वादशराशयः
नामानुरूपमेतेषां शुभाशुभफलं लभेत् ॥२२॥

राशियोंकी शुद्धताकी जानकारी परम आवश्यक है। शत्रु, मृत्यु और व्यय स्थानमें आने वाले वर्ण त्याज्य हैं। अपनी राशि और मन्त्र-राशि की गणना विज्ञ पुरुष अवश्य करें। मन्त्रके आदि वर्ण और राशि-नामके आदिवर्णसे गणना करने पर छठें, आठवें तथा बारहवें स्थान पर यदि मन्त्रका आदि अक्षर हो, तो, उस मन्त्रकी दीक्षासे शिष्यका अहित होता है। वह मन्त्र रिपु मन्त्र हो जाता है।

१—लग्न स्थान २—धन ३—भातृ स्थान ४—बन्धु स्थान ५—पुत्र स्थान ६—शत्रु स्थान ७—कलत्र स्थान, ८—मृत्यु ९—धर्म १०—कर्म ११—आय और १२—व्यय ये बारह स्थान लग्नसे ही गिने जाते हैं।

इन संज्ञाओंके शब्दार्थ के अनुसार शुभ और अशुभ फलोंका निर्णय होता है॥ २२॥

लग्ने सिद्धिस्तथा नित्यं धने धनसमृद्धिदम्।
भ्रातरि भ्रातृवृद्धिः स्यात् बांधवे बान्धवप्रियः ॥२३॥
पुत्रे च पुत्रवृद्धिः स्याच्छत्रौ शत्रुविवर्द्धनम्।
कलत्रे मध्यमं प्रोक्तं मरणे मरणं भवेत् ॥२४॥
धर्मे च धर्मवृद्धिः स्यात् सिद्धिदः कर्मसंस्थितः।
आये च धर्मसम्पत्तिर्व्यये च संचितव्ययः ॥२५॥

तनु, धन, सहज, सुहृत्, सुत, रिपु, जाया, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय और व्यय ये बारह स्थान लग्नों के हैं। ये १२ राशियोंके स्थान हैं। दीक्षाकी दृष्टिसे इनके फलका विचार इनके नामोंके अनुसार किया जाता है। शुभ नामोंके शुभ फल तथा अशुभ नामोंके अशुभ फल होते हैं ॥२३-२४-२५॥

नक्षत्रचक्रम्

उत्तराद् दक्षिणाग्रान्तु रेखां कुर्याच्चतुष्टयीम् ।
दशरेखाः पश्चिमाग्राः कर्त्तव्या वीरवन्दिते ॥२७॥

अश्विनी	भरणी	कृत्तिका	रोहिणी	मृगशिरा	आर्द्रा	पुनर्वसु	पुष्य	आश्लेषा
अ आ	इ	ई उ ऊ	ऋ ॠ ऌ ॡ	ए	ऐ	ओ औ	क	ख ग
देवः	मानुषी	राक्षसी	मानुषी	देवी	मानुषी	देवः	देवः	राक्षसी
मघा	पूर्वफाल्गुनी	उ० फा०	हस्त	चित्रा	स्वाती	विशाखा	अनुराधा	ज्येष्ठा
घङ	च	छज	झञ	ट ठ	ड	ढ ण	त थ द	ध
राक्षसः	मानुषी	मानुषी	देवः	राक्षसी	देवी	राक्षसी	देवी	राक्षसी
मूल	पूर्वाषाढा	उत्तराषाढ	श्रवण	धनिष्ठा	शतभिष	पूर्वभाद्रपद	उत्तरभाद्रपद	रेवती
न प फ	ब	भ	म	य र	ल	व श	ष स ह	क्ष अं अः
राक्षसः	मानुषः	मानुषः	देवः	राक्षस	राक्षस	मानुष,	मानुषः	देवः

अश्विन्यादिक्रमेणैव विलिखेत्तारकाः पुनः।
अकारादिक्षकारान्तान् द्विचन्द्रवह्निवेदकान् ॥२८॥

इसप्रकार २७ कोष्ठोंमें २७ नक्षत्रोंकी स्थापना करनी चाहिये। उन कोष्ठोंमें 'अ' से 'क्ष' तक वर्णोंकी भी स्थापना करनी चाहिये। इसका क्रम प्रथममें दो, दूसरे कोष्ठोंमें एक, तीसरेमें तीन, चौथेमें, चार तथा—

भूमीन्दुनेत्रचन्द्राँश्च आश्लेषान्तं खगौ प्रिये।
द्वि भू नेत्रयुग्माँश्चेन्दुनेत्राग्नियुग्मकान् ॥२९॥

पञ्चम कोष्ठमें एक, छठेंमें एक, सप्तममें दो, अष्टममें एक, नवममें दो, तथा—

मघादिकं च ज्येष्ठान्तं द्वितीयं नवतारकम्।
वह्नि भूमीन्दुचन्द्राँश्च युग्मेन्दुनेत्रवह्निकान् ॥३०॥

दसवेंमें दो, ग्यारहवेंमें एक, बारहवेमें दो, तेरहवेंमें दो, चौदहवेंमें दो, पन्द्रहवेंमें एक, सोलहवेंमें दो, सत्रहवेंमें तीन, अठारहवेंमें एक, उन्नीसवेंमें तीन, वीसवेंमें एक, इक्कीसवेंमें एक, बाइसवेंमें एक, तेइसवें में दो, चौवीसवेंमें एक, पचीसवेंमें दो, छब्बीसवेंमें तीन और सत्ताइसवें कोष्ठकमें चार वर्ण स्थापित करें।

वेदेन भेदितान् खेत्यन्तं गतान् क्रमात्।
पूर्वोत्तरत्रयं चैव भरण्यार्द्राथ रोहिणी ॥३१॥
इमानि मानुषाण्याहु र्नक्षत्राणि मनीषिणा ॥३२॥
ज्येष्ठा शतभिषामूला धनिष्ठाश्लेष कृत्तिकाः।
चित्रा मघा विशाखाः स्युस्तारा राक्षसदेवताः ॥३३॥
अश्विनी रेवती पुष्या, स्वाती हस्ता पुनर्वसूः।
अनुराधा मृगशिरः श्रवणा देव तारकाः॥
स्वजातौ परमा प्रीति र्मध्यमा भिन्न जातिषु ॥३४॥

पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा और पूर्वभाद्रपद, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा एवम् उत्तरभाद्रपद, भरणा, आर्द्रा और रोहिणी इन ९ नक्षत्रोंको मनीषी लोग मनुष्यगण मानते हैं।

ज्येष्ठा, शतभिषा, मूल, धनिष्ठा, आश्लेषा, कृत्तिका चित्रा, मघा और विशाखा ये नौ नक्षत्र राक्षस गण हैं।

अश्विनी, रेवती, पुष्य, स्वाती, हस्त, पुनर्वसु, अनुराधा, मृगशिरा, और श्रवण ये ९ देवगण हैं। अपनी जातिमें प्रीति स्वाभाविक है। भिन्न जातियोंमें मध्यम श्रेणीकी प्रीति होती है।

रक्षो मानुषयोर्नाशो वैरं दानव देवयोः।
जन्म—सम्पद्विपत् क्षेमं प्रत्यरिः साधको वधः ॥३५॥
मित्रं परम मित्रञ्च जन्मादीनि पुनः पुनः।
रसाष्टनव भद्राणि युग्मयुग्मगतानि च ॥३६॥
इतराणि न भद्राणि तत्त्याज्यानि मनीषिणा।
प्रादक्षिण्येन गणयेत् साधकाद्यक्षरात् सुधीः ॥३७॥

राक्षस एवं मनुष्यका संसर्ग नाशक तथा देव और दानव वैर वढ़ाने वाले होते हैं। जन्म नक्षत्र और मन्त्रका आदि अक्षर जिन कोष्ठोंमें हैं—उन्हीं कोष्ठगत अक्षरोंसे गणनाकर लेनी चाहिये। यदि मन्त्र और मन्त्र गृहीताका एक ही गण है, तो मन्त्र सुखदायी होगा। यदि शिष्यका मनुष्य और मन्त्र देवगणका हो तो मन्त्र मङ्गलदायक होता है। शत्रुताकारक एवं मृत्युकारक मन्त्र ग्रहण योग्य नहीं होते। जन्म, सम्पत्, विपत्, क्षेम, प्रत्यरि, साधक, मित्र एवं परम मित्र जन्म नक्षत्र होते हैं। मन्त्रनक्षत्र तक गणनाकर इनकी स्थिति जाननी चाहिये। यदि जन्म नक्षत्रसे मन्त्रनक्षत्र, जन्म, तृतीय, पञ्चम अथवा सप्तम हो, तो वह मन्त्र त्याज्य है।

किन्तु यदि जन्म नक्षत्रसे मन्त्र नक्षत्र छठें, आठवें दूसरे, नवें अथवा चौथेके हों, तो वे शुभ माने जाते हैं। इन पाँच स्थानोंके अतिरिक्त सभी अशुभ होते हैं। इसीलिये विज्ञ पण्डित लोग जन्मादि युग्म युग्म नक्षत्रके मन्त्र छोड़ देते हैं अर्थात् अग्रहणीय मानते हैं।

अकथहचक्रम्

चतुरस्त्रंलिखेत् कोष्ठं चतुःकोष्ठसमन्वितम्।
पुनश्चतुष्कं तत्रापि लिखेद् धीमान् क्रमेण तु ॥
ततः षोडशकोष्ठेषु लिखेद् वर्णान् यथाक्रमाद् ॥३८॥

पहले चार कोष्ठोंवाला एक चतुर्भुज बनावे। फिर उसे चार भागोंमें बाँट दे। अर्थात् यह १६ कोष्ठका एक चौकोर चतुर्भुज बनेगा उसमें अकथहके क्रमसे वर्णोंको लिखना चाहिये।

इन्द्राग्निरुद्रनवनेत्रयुगार्कदिक्षु,
ऋत्वष्टषोडशचतुर्दशभौतिकेषु ।
पातालपञ्चदशवह्निहिमांशुकोष्ठे,
वर्णांल्लिखेत् लिपिभवान् क्रमशस्तु धीमान् ॥३९॥

नागाद्यक्षरमारभ्य यावन्मन्त्रादिमाक्षरम् ।
चतुर्भिः कोष्ठेरैकैक-मितिकोष्ठ - चतुष्टयम् ॥४०॥

पुनः कोष्ठगकोष्ठेषु सव्यतो नाम्न आदितः ।
सिद्धः साध्यः सुसिद्धोऽरिः क्रमाज्ज्ञेयो विचक्षणैः ॥४१॥

अकथहचक्रम्

अ क थ ह	उ ङ प	आ ख द	ऊ च फ
ओ ड व	ॡ झ म	औ ढ श	ॡ ञ ष
ई घ न	ॠ ज भ	इ ग ध	ऋ छ व
अः त स	ऐ ठ ल	अं ण ष	ए ट र

प्रथम कोष्ठमें अ, तृतीयमें आ, एकादशमें इ, नवममें ई, द्वितीयमें उ, चतुर्थमें बड़ा ऊ, बारहवें ऋ, दसवें में ॠ, छठेंमें ॡ, सोलहवेंमें ए, चौदहवेंमें ऐ, तेहरवें कोष्ठमें अः के क्रमसे सोलह कोष्ठोंमें सोलह स्वरकी स्थापना करनी चाहिये ।

इसी प्रकार १,३,११,९,२,४,१२,१०,६,८,१६,१४,५,७,१५ और १३वें कोंष्ठो के क्रम से वर्णों (व्यञ्जनों) की स्थापना भी करनो चाहिये। चक्र पूर्ण होने पर मन्त्रग्रहण करनेवाले शिष्यके नामके आदिम अक्षरसे आरम्भ कर मन्त्रके आदि अक्षर पर्यन्त बायें तरफके प्रधान चार कोष्ठोंके बाद आदिम अक्षर पर्यन्त पड़नेवाले कोष्ठोंमें क्रमशः सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और अरि (शत्रु) नामक वर्ण होंगे। इन्हीं नामोंके अनुसार शिष्य और मन्त्रका मेलापक देखना चाहिये।

सिद्धार्णाः, बान्धवाः प्रोक्ताः साध्यास्तु सेवकाः स्मृताः।
सुसिद्धाः पोषका ज्ञेयाः शत्रवो घातकाः स्मृताः ॥ ४२

सिद्धः सिध्यति कालेन साध्यस्तु जपहोमतः।
सुसिद्धो ग्रहणादेव रिपुर्मूलं निकृन्तति ॥ ४३ ॥

सिद्धसिद्धो यथोक्तेन द्वैगुण्यात् सिद्धसाधकः।
सिद्धसुसिद्धोऽर्द्धजपात् सिद्धारिर्हन्ति बान्धवान् ॥ ४४ ॥

साध्यसिद्धो द्विगुणकः साध्यसाध्यौ निरर्थकः।
तत्सुसिद्धस्तु द्विगुणात् साध्यारिर्हन्ति गोत्रजान् ॥ ४५ ॥

सुसिद्धसिद्धोऽर्धजपात्, तत्साध्यो द्विगुणोधिकात्।
तत्सुसिद्धो ग्रहादेव सुसिद्धारिः स्वगोत्रहा ॥ ४६ ॥

अरिसिद्धः सुतान् हन्यात् अरिसाध्यस्तु कन्यकाः।
तत्सुसिद्धस्तु पत्नीघ्नस्तदरिर्हन्ति साधकम् ॥ ४७ ॥

वटपत्रे लिखित्वारिमन्त्रं स्रोतसि निक्षिपेत्।
एवं मन्त्रविमुक्तिः स्यादित्याह भगवान् शिवः ॥ ४८ ॥

इन सात श्लोकोंमें मन्त्रोंके भेदप्रभेद और उनके फलका वर्णन किया गया है। सिद्ध सुसिद्ध, साध्य और अरि ये चार सामान्य भेद बतलाये थे। सिद्ध वर्ण बान्धव, साध्य सेवक, सुसिद्ध पोषक और अरिवर्ण शत्रु माने जाते हैं। सिद्ध मन्त्र जितना समय अपेक्षित है, उतनेमें सिद्ध हो जाता है। साध्यमन्त्र जप और होमसे सिद्ध होते हैं। सुसिद्धमन्त्र ग्रहणमें सिद्ध होता है। रिपु मन्त्रजड़ से उखाड़ फेंकता है। ॥४३॥

इन सामान्य भेदोंके बाद निम्नलिखित प्रभेद होते हैं और उनके फलभी इसी प्रकार के हैं—

क्रम	भेद	फल
१.	सिद्ध सिद्ध	जितना निर्देश उससे दूना जप करनेसे सिद्ध होता है और कार्य सिद्ध होता है।
२.	सिद्ध साध्य	निर्देशानुसार फलदायक।
३.	सिद्ध सुसिद्ध	आधे जपसे ही सिद्ध हो जाता है और लाभप्रद होता है।
४.	सिद्धारि	भाई परिवारका नाश करता है।
५.	साध्यसिद्ध	दूना जप आवश्यक दूना फलप्रद।
६.	साध्य-साध्य	निरर्थक
७.	साध्यसुसिद्ध	द्विगुण रूपसे कार्यसाधक
८.	साध्यारि	इसके जपसे पूरे गोत्रका नाश हो जात है। इसका जप नहीं करना चाहिये।
९.	सुसिद्धसिद्ध	आधे जपसे ही फलदायक।
१०.	सुसिद्धसाध्य	निर्देशसे दूनी संख्याके जपसे कार्य सम्पन्न।
११.	सुसिद्धसुसिद्ध	ग्रहण मात्र जपसे फलप्रद
१२.	सुसिद्ध अरि	अपने गोत्रका विध्वंस करने वाला
१३.	अरिसिद्ध	पुत्रनाशक। अतः निषिद्ध
१४.	अरिसाध्य	पुत्रीनाशक। अतएव निषिद्ध
१५.	अरिसुसिद्ध	पत्नी नाशक। निषिद्ध
१६.	अरि-अरि	स्वयं साधककोही मार डालता है। अतः इसका जप सर्वथा निषिद्ध है।

यदि दुर्भाग्यसे अरिवर्गका मन्त्र मिल जाय और साधक उसे जपना प्रारम्भ कर भी दे, तो पता लग जाने पर इस मन्त्रको वटपत्रपर लिखकर बहते हुए स्रोतमें बहा देना चाहिये। इस प्रकार उसमन्त्रसे विमुक्ति मिल जाती है। यह भगवान् शंकरका आदेश है।

अकडमचक्रम्

रेखाद्वयं पूर्वपरेण कुर्यान्तिन्मध्यतो यास्यकुबेर भेदात् ।
महेशरक्षोऽधिपतिक्रमेण तिर्यक् तथा वायु हुताशनेन ॥ ४९ ॥
अकारादिक्षकारान्तान् क्लीबहीनान् लिखेत्ततः ।
एकैकक्रमतो लेख्यान् मेषादिषु वृषान्तकान् ॥ ५० ॥
गणयेत् क्रमशो भद्रे नामादिवर्णपूर्वकान् ।
मेषादितश्च मीनान्तं गणयेत् क्रमशः सुधीः ॥ ५१ ॥
जप्तुः स्वनामतो मन्त्री यावन्मन्त्रादिमाक्षरम् ॥ ५२ ॥
सिद्धः साध्यः सुसिद्धारी पुनः सिद्धादयः पुनः ।
नवैकपञ्चमे सिद्धः साध्यः षड् दश-युग्मके ॥ ५३ ॥
सुसिद्धः त्र्यंषिरुद्रे च वेदाष्टे द्वादशे रिपुः ।
एतत्ते कथितं देवि अकड़मादिकमुत्तमम् ॥ ५४ ॥

चक्रविधान—पूर्व पर दो समानान्तर रेखायें खींचनी चाहिये । इससे चार दिशायें और चार कोण बनेंगे । चारोंकोणों कोणों को ४५° दो दो भागमें बाँट देना चाहिये । इसप्रकार वाम भागसे गणनानुसार (वामावर्त्त) १२ राशियोंकी स्थापना करनी चाहिये । बीचका चतुर्भुज-

अकडमचक्रम्

मिथुन अं ट व क्ष	वृष अः ठ भ	मेष अ क ड म	मीन आ ख ढ य	कुम्भ इ ग ण र
कर्क औ ञ फ ल				मकर ई घ त न
सिंह ओ झ प ह	कन्या ऐ ज स	तुला ए छ ध ष	वृ० ऊ च द श	धनु उ ऊ थ व

रिक्त रहेगा । इसके विपरीत मीनसे मेषक्रममें (दक्षिणावर्त्त) ऋ ऌ को छोड़कर १२ स्थानों पर १२ स्वर लिखना चाहिये । इसीप्रकार सभी व्यञ्जन लिखना चाहिये । इसी को मिलानेसे मन्त्रोद्धार होता है । साधक के नामका आदि अक्षर और मन्त्रका आदि अक्षरपर्यन्त सिद्ध, साधक

सुसिद्ध और अरि ये वर्ण माने जायेगें। नवम प्रथम, एवं पञ्चम कोष्ठमें स्थित वर्ण सिद्ध; छठें, दशवें और दूसरे चक्रके साध्य, तृतीय, सप्तम एक एकादश कोष्ठस्थित सुसिद्ध, तथा चतुर्थ, अष्टम और द्वादश कोष्ठ स्थित मन्त्र अरिमन्त्र हैं। शंकरभगवान् कहते हैं कि हे देवि ! तुमसे मैंने इस श्रेष्ठतम चक्रका रहस्योद्घाटन किया।

ऋणधनिचक्रम्

कोष्ठा एकादशज्ञेयाः वेदेन परिपूरिताः।
अकारादिहकारान्ताँल्लिखेत् कोष्ठेषु तत्त्ववित् ॥ ५५ ॥
प्रथमं पञ्चकोष्ठेषु ह्रस्वदीर्घक्रमेण तु।
द्वयं द्वयं लिखेत्तत्र विचारेण तु साधकः॥ ५६ ॥
शेषष्वेकैकशो वर्णान् क्रमशस्तु लिखेत् सुधीः ॥ ५७ ॥

अपिच

द्वौ द्वौ स्वरो पञ्चसु कोष्ठकेषु
शेषान् स्वरान् षट्सु षडेकमेकम्।
कादीन् हशेषान् विलिखेत् ततोऽर्णान्
एकैकमेकादशसु त्रिकेषु ॥ ५८ ॥
षट्कालकालवियदग्निसमुद्रवेद-
खाकाशशून्यदहनाः खलु साध्यवर्णाः।
युग्मद्विपञ्च वियदम्बरयुक् शशाङ्क-
व्योमाब्धिवेदशशिनःखलुसाधकार्णाः ॥ ५९ ॥

पहले ग्यारह कोष्ठ वनाकर उन्हें चार समानान्तर रेखाओं से विभक्त-कर देने पर ४४ कोष्ठ निर्मित होते हैं। इनमें ऊपर के ११ कोष्ठों में १६ स्वर ह्रस्व+दीर्घ क्रम से ५ कोष्ठों में भरकर शेष ६ कोष्ठों में दीर्घ स्वरों को भरना चाहिये। नीचे के ३३ कोष्ठों में क्रमशः क से ह तक के वर्ण भरना चाहिये।

इन ४४ कोष्ठों के ठीक ऊपरो कोष्ठों के ऊपर क्रमशः ६, ६, ६, ०, ३, ४, ४, ०, ०, ०, और ३ अङ्क लिखना चाहिये। इसी प्रकार नीचे २, २, ५, ०, ०, २, १, ०, ४, ४ और १ लिख देने पर चक्र पूरा हो जाता है। ऊपर के अङ्क साध्य और नीचे के अङ्क साधक माने जाते हैं।

चक्रम्

६	८	६	०	३	४	४	०	०	०	३
अ आ	इ ई	उ ऊ	ऋ ॠ	ऌ ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट
ठ	ड	ढ	ण	त	श	द	ध	न	प	फ
ब	भ	म	य	र	ल	व	श	ष	स	ह
२	२	५	०	०	२	१	०	४	३	१

नामाज्झलादकठवाद्गजभक्तशेषम्
ज्ञात्वोभयोरधिक - शेषमृणं धनं स्यात् ॥ ६० ॥
मन्त्रो यद्यधिकाङ्कः स्यात् तदा मन्त्रं जपेद् सुधीः ।
समेऽपि च जपेन्मन्त्रं न जपेत्तु ऋणाधिकम् ॥ ६१ ॥
शून्ये मृत्युं विजानीयात् तस्मात् शून्यं परित्यजेत् ॥ ६२ ॥
सुप्तो जागर्त्ति येनासौ दूरस्थः प्रतिभासते ।
वदत्यन्यमनस्कोऽपि तन्नाम ग्राह्यमेव च ॥ ६३ ॥

मन्त्रके स्वर अथवा व्यञ्जनवर्ण सबको पृथक् पृथक् रखना चाहिये । पहले किये निर्देश के अनुसार योग एवं भाग करना चाहिये । अर्थात् शिष्य नाम का आदि अक्षर और मन्त्रका आदि अक्षर का ध्यान रखते हुए मन्त्र में आने वाले स्वर और व्यञ्जन वर्णों को भी इस कोष्ठ में देखना चाहिये । स्वर और व्यंजन वर्णों के ऊपर के अङ्कों को अलग-अलग लिखकर एक साथ जोड़ देना चाहिये । इस योग में आठ (८) का भाग देना चाहिये । शेष को पृथक् रखना चाहिये । इसी तरह मन्त्र गृहीता के नाम के स्वर और व्यञ्जन वर्णों को कोष्ठों में देखे । इस बार नीचे के अङ्कोंको एकत्र कर योग करे । फिर आठ से भाग दे । शेष को अलग लिख ले । जो शेष अधिक है । वह धनी है । कम शेष ऋणी है । मन्त्र यदि अधिकाङ्क है, तो ऐसे मन्त्रका जप बुद्धिमान् व्यक्ति अवश्य करे । सम संख्या में भी मन्त्र का जप किया जा सकता है । ऋणाधिक मन्त्र कभी न जपे । शून्य शेष में मृत्यु का फल होता है । इसलिये शून्य का परित्याग कर देना चाहिये । शिष्य का वही नाम ग्रहण करना चाहिये, जिसके बुलाने पर सोते हुए भी जाग जाता है, दूर से सम्बोधन करने पर बोलता है तथा दूसरे काम में मन लगा रहने पर भी बुलाने पर ध्यान दे पाता है । उसी नाम से इस ऋणीधनी चक्रद्वारा परीक्षा करनी चाहिये ।

उपास्य–निर्णयविधिः

निराकारात् समुत्पन्नं साकारं सकलं जगत् ।
तत्साकारं समाश्रित्य ध्याने भवति तन्मयः ॥ ६४ ॥
तत्त्वाद् ब्रह्माण्डमुत्पन्नं तत्त्वेन परिवर्त्तते ।
तत्त्वेन लीयते सर्वं तत्त्वाद् ब्रह्माण्डनिर्णयः ॥ ६५ ॥
शिवः सूर्यो गणेशश्च विष्णुः शक्तिः यथाक्रमम् ।
सगुणोपासनायाश्च देवताः पञ्च कीर्त्तिताः ॥ ६६ ॥
उपासनानां पञ्चानां पञ्चतत्त्वविवेकतः ।
निर्णयो मुनिभिः पूर्वं कृतः सूक्ष्मार्थ - दर्शिभिः ॥ ६७ ॥

साकार अर्थात् रूपात्मक यह सारा जगत् निराकार से ही उत्पन्न हुआ है। अतएव साकार का आश्रय लेकर ही ध्यानके द्वारा तन्मयता प्राप्त करता है।

तत्त्व से ही सारा ब्रह्माण्ड उत्पन्न है। तत्त्व के द्वारा ही इसमें परिवर्त्तन होता है। तत्त्व के द्वारा ही लय को भी प्राप्त करता है। तत्त्व से ही ब्रह्माण्ड का निर्णय भी सम्भव है।

शिव, सूर्य, गणेश, विष्णु और शक्ति ये पाँच देव ही सगुण उपासना द्वारा उपास्य देव हैं। इस श्लोक में प्रयुक्त यथाक्रम शब्द सम्प्रदायानुसार क्रम का निर्देशक है।

सूक्ष्मदर्शी मुनियों ने पाँच तत्त्वों का विचार किया। फलस्वरूप उन्होंने पञ्चदेवोपासनाका सिद्धान्त आविष्कृत किया। यह निर्णय किया कि पञ्चदेवोपासना से ही परमकल्याण हो सकता है।

वेद प्रमाणतश्चैव तथा युक्ति – विचारतः ।
सिद्धः सः सर्वथा देवि ! सर्वकल्याणकारकः ॥६८॥
विरोधो दृश्यते योऽसौ सम्प्रदायवतामिह ।
अज्ञानजोऽयं हेतुर्वै दुर्गते नात्र संशयः ॥६९॥

पञ्चोपासना पद्धति और पञ्च उपास्य देव का यह सिद्धान्त वेदप्रामाण्यसे सिद्ध है। साथ ही मुनियोंने मनन, चिन्तन और युक्ति विचार द्वारा भी इसे सिद्ध कर दिया है। श्री भगवान् शङ्कर कहते हैं कि हे देवि यह सिद्धान्त सर्वथा ग्रहण योग्य है और सभी प्रकारसे कल्याणप्रद है।

यद्यपि सम्प्रदायवादियोंमें विरोध पाया जा रहा है। यह प्रत्यक्ष है। ये लोग अपने अपने उपास्यको उत्तम और अन्य उपास्य देवोंको हेय मानते हैं। यह विरोध ठीक नहीं। सच पूछा जाय तो यह विरोध ही धार्मिक दुर्गतिका कारण है। यह विरोध सचमुच अज्ञानमूलक है। इन बातोंमें संशयको कोई गुंजायश नहीं है॥ ६९॥

पञ्चदेवविज्ञानम्

प्रकृतेः पर एवान्यः स नरः पंचविंशकः।
तस्येमानि च भूतानि तेन नारायणः स्मृतः॥७०॥
सविता सर्वभूतानां सर्वान् भावान् प्रसूयते।
सवनात् पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते॥७१॥
ब्रह्माण्डमूलभूता या पूजिता देवतागणैः।
ईशनात् सर्वलोकस्य मता सा वै महेश्वरी॥७२॥
गुणत्रयेश्वरोऽतीततत्त्वोऽव्यक्तः सुनिर्मलः।
गणानामीश्वरो यस्मात् तस्मात् गणपतिर्मतः॥७३॥
ब्रह्मादीनां सुराणाञ्च मुनीनां ब्रह्मवादिनाम्।
तेषां महत्त्वाद्देवोऽयं महादेवः प्रकीर्त्तितः॥७४॥
देवपञ्चकमित्याहुरेकं देवं सुधीवराः।
एकमेव परंब्रह्म परमात्मपराभिधम्॥७५॥

प्रकृतिसे परे वह एक अन्य जो पुरुष है, वह पचीसवाँ तत्त्व है। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् उसीके अधीन है। इसी कारणसे उसको नारायण कहते हैं।

जो समस्त भूतमात्र और पदार्थ समूहका उत्पादक है अर्थात्—पञ्च-महाभूतों और उससे निर्मित पदार्थोंकी उत्पत्ति जिससे होती है, अतः सवन करनेके कारण तथा पावन करनेके कारण उसे सविता (सूर्य) कहते हैं।

माहेश्वरी शक्ति है। वह ब्रह्माण्डकी मूल है। समस्त देवताओं द्वारा पूजित है। समस्त लोकके ऐश्वर्यको धारण करती है। ईशन उसका व्यापार है। अतः उसे माहेश्वरी कहते हैं।

तीनों गुणोंके स्वामी, तत्त्वातीत, अव्यक्त, अत्यन्त निर्मल, गणोंके स्वामी गणनाथको गणेश कहते हैं।

ब्रह्मा आदि देवताओंसे, मुनियों और ब्रह्मवादी ऋषीश्वरोंसे भी जिनका महत्त्व अधिक है—ऐसे देवदेवको महादेव कहते हैं। इस प्रकार सुधी विद्वान् लोग पञ्चदेवको एक रूप ही, एक देव ही मानते हैं। अर्थात् एक ही ब्रह्म इन पाँच भेदों में भासमान हो रहा है।

अधिकारनिर्णयः

मानवानां प्रकृतयः पञ्चधा परिकीर्त्तिताः ।
यतो निरूप्यते सर्गः पञ्चभूतात्मको बुधैः ॥७६॥
भिन्ना यद्यपि भूतानां प्रकृतिः प्रकृतेर्वशात् ।
तथापि पञ्चतत्त्वानामनुसारेण तन्त्रवित् ॥७७॥
प्रत्येक तत्त्वप्राचुर्यं विमृश्य विधिपूर्वकम् ।
उपासनाधिकारस्य पञ्चभेदमवर्णयत् ॥
उपासनाः पञ्चविधा इत्थं निर्णीयते स्फुटम् ॥७८॥
आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चापि महेश्वरी ।
वायोः सूर्यः, क्षितेरीशो, जीवनस्य गणाधिपः ॥७९॥

सृष्टि पञ्चमहाभूतात्मक है—यह विज्ञजन निरूपित करते हैं। फल-स्वरूप मनुष्योंकी प्रकृति भी पाँच प्रकारकी ही कही गयी है।

प्रकृतिके वशमें रहनेके कारण भूतमात्रकी प्रकृति (स्वभाव) भिन्न होती है। यह प्राकृतिक वैचित्र्य ही है। फिर भी मन्त्रयोग संहिताके तन्त्रवेत्ता रचयिता पाँचों तत्त्वोंके अनुसार ही विधिपूर्वक तत्त्वोंके प्राचुर्यका विमर्श करके उपासनाके भेदोंके अधिकार सम्बन्धी निर्णय दे रहे हैं एवम् उनका वर्णन कर रहे हैं। उपासना पाँच प्रकारकी होती यह स्पष्ट निर्णय किया गया है। जहाँ तक तत्त्वों के स्वामीका प्रश्न है—वे निम्नवत् हैं—

आकाशके अधिपति विष्णु हैं। अग्निकी स्वामिनी अर्थात् अधिपति माहेश्वरी शक्ति है। वायुके अधिपति सूर्य हैं। पृथ्वीके स्वामी शंकर हैं। सारे मानव जीवनके अधिपति गणेश हैं।

गुरवो योगनिष्णाताः प्रकृतिं पञ्चधा गताम् ।
परीक्ष्य कुर्युः शिष्याणामधिकारविनिर्णयम् ॥८०॥

ऋतम्भरधिया ज्योतिः स्वरोदयसहायतः ।
उपासनाधिकारो वै निर्णेतुं शक्यते ध्रुवम् ॥८१॥
चित्तसंवेग—वैराग्य—धारणादिविनिर्णयम् ।
परीक्ष्य चास्यान्तरिकान् भावाँश्छिष्यस्य योगवित् ॥८२॥
तत्सम्प्रदायनियमं तेषां प्रकृतिसन्निभम् ।
करोति जीवकल्याणकल्पनाकलितान्तरः ॥८३॥

योगमार्गमें निष्णात गुरुदेव शिष्यकी प्रकृतिका पञ्चधाप्रकृतिके अनुसार निर्णयकर शिष्यकी उपासनाके अधिकारका निर्धारण करते हैं।

ऋतम्भरा बुद्धिके द्वारा, ज्योतिष् और स्वरोदय इन तीन प्रकारसे अर्थात् इनकी सहायतासे उपासनाके अधिकारका निर्धारण निश्चयपूर्वक किया जा सकता है।

पञ्चोपासनानुसार उपासनाधिकार निर्णयके उपरान्त शिष्यके आन्तरिक भावोंकी परीक्षा भी आवश्यक है। उसके मानसिक संवेगों, उसके हृदयस्थित वैराग्य और धारणा आदिकी परीक्षा करके योगशास्त्रवेत्ता गुरु शिष्यके कल्याणकी कामना करे।

अपने सम्प्रदायके सिद्धान्तों और नियमोंका ध्यान रखते हुए शिष्यकी प्रकृतिके सदृश मन्त्रकी दीक्षा गुरुदेव देते हैं। गुरुदेव जीवकल्याण की कल्पनासे आकलित हृदय वाले होते हैं। उनसे शिष्यका शाश्वतिक कल्याण होता है।

मन्त्रयोगाङ्गवर्णनम्

भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम् ।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडश शोभनाः ॥ ८४ ॥
भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम् ।
आचार-धारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि ॥ ८५ ॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः ।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश ॥ ८६ ॥

मन्त्रयोगके सोलह अङ्ग होते हैं। यह निश्चित है। जैसे चन्द्रमाकी सुन्दर सोलह कलायें होती हैं। वे क्रमशः निम्नलिखित हैं—

१—भक्ति २—शुद्धि ३—आसन ४—पञ्चाङ्ग सेवन, ५—आचार, ६—धारणा, ७—दिव्यदेश सेवन, ८—प्राणक्रिया ९—मुद्रा, १०—तर्पण, ११—हवन, १२—बलि, १३—याग, १४—जप, १५—ध्यान और १६—समाधि। इन १६ अङ्गोंकी पद्धतिका मर्मज्ञ विद्वान् ही मन्त्र देनेका अधिकारी है।

भक्तेर्भेदास्त्रयो ज्ञेयाश्चाधिकारस्य भेदतः।
त्रैगुण्यभेदात्त्रिविधोऽधिकारोऽस्याः प्रकीर्त्तितः॥ ८७॥
शुद्धिश्चतुर्विधा प्रोक्ता चासनं द्विविधं स्मृतम्।
पञ्चाङ्गसेवनं गीतास्तोत्रपाठादिकं मतम्॥ ८८॥
आचारस्त्रिविधः प्रोक्तोऽधिकारास्तस्य सप्त वै।
धारणा द्विविधा प्रोक्ता बाह्यान्तरभेदतः॥ ८९॥
षोडशाङ्गं विनिर्दिष्टं दिव्यदेशस्य सेवनम्।
आविर्भवन्तीष्ट - देवा अत्रैवाशु स्वभावतः॥ ९०॥

भक्तिके तीन भेद हैं। अधिकार भेद और उपासनाके तारतम्यके अनुसार तथा तीन गुणोंके भेदसे भक्तिका अधिकार भी तीन ही है।

शुद्धि चार प्रकारकी होती है! आसन दो प्रकारका होता है। गीतास्तोत्रपाठ आदिको पञ्चाङ्गसेवन कहते हैं।

आचार तीन प्रकारका होता है। साधकके अधिकार सात प्रकारके होते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे धारणा दो प्रकार की होती है। दिव्यदेशसेवन सोलह प्रकारका होता है। स्वभावतः इनमें ही इष्टदेव प्रत्यक्ष होते हैं।

यदङ्गभूता न्यासाद्याः सैका प्राणक्रिया मता।
भावबाहुल्यवत्त्वाद्धि बह्व्यो मुद्राः प्रकीर्त्तिताः॥ ९१॥
देवानां प्रीतिकृज्ज्ञेयं तर्पणं हवनं बलिः।
बाह्याभ्यन्तरभेदेन यज्ञभेदो द्विधा मतः॥ ९२॥
श्रद्धोपचारभेदेन पूजायाः भेदकल्पना।
जपस्य हि त्रयो भेदाः ध्यानं बहुविधं मतम्।
परं समाधिरेकः स्यान्महाभावेतिनामकः॥ ९३॥

प्राणक्रिया एक प्रकारकी ही होती है। न्यास आदि उसी के अङ्गभूत माने जाते हैं। भावबाहुल्यके कारण मुद्राके अनेक भेद माने जाते हैं। तर्पण, हवन और बलि (क्रियायें) देवोंको प्रसन्न करने वाली हैं—यह

जानना चाहिये। बाह्य और आन्तर भेद से यज्ञ भी दो प्रकारका होता है। श्रद्धा और उपचार भेदसे पूजामें भेद कल्पित होता है। जप तीन प्रकारका होता है। ध्यान अनेक प्रकारके होते हैं क्योंकि पञ्चोपासनाके सिद्धान्तके अनुसार उपास्यके ध्यान भी अनेक होने पर भी समाधिका एक ही भेद होता है। मन्त्रयोग शास्त्रके अनुसार समाधिको महाभाव कहते हैं।

भक्तिवर्णनम्

भक्तिस्तु त्रिविधा ज्ञेया वैधी रागात्मिका परा।
देवे परोऽनुरागस्तु भक्तिः सम्प्रोच्यते बुधैः॥ ९४॥
विधिना या विनिर्णीता निषेधेन तथा पुनः।
साध्यमाना च या धीरैः सा वैधी भक्तिरुच्यते॥ ९५॥
ययास्वाद्य रसान् भक्तेर्भावे मज्जति साधकः।
रागात्मिका सा कथिता भक्तियोगविशारदैः॥ ९६॥

वैधी, रागात्मिका और परा भेदसे भक्ति तीन प्रकारकी मानी जाती है। अपने इष्टदेवमें ऐकान्तिक अनुराग को ही धीर पुरुष भक्ति कहते हैं। विधिनिषेधके द्वारा जिसका निर्णय हो और भक्ति साध्यमान हो उसे वैधी भक्ति कहते हैं।

जिसके द्वारा भक्तिका रसास्वादन कर भक्तिके महाभावमें साधक डूब जाता है, भक्तिशास्त्र के विशारदों द्वारा वह रागात्मिका भक्ति मानी जाती है।

पराऽऽनन्दप्रदा भक्तिः पराभक्तिर्मता बुधैः।
या प्राप्यते समाधिस्थैर्योगिभिर्योगपारगैः॥९७॥
त्रैगुण्यभेदात् त्रिविधा भक्ता वै परिकीर्त्तिताः।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी तथा त्रिगुणतः परः॥९८॥
परा-भक्त्यधिकारी यो ज्ञानिभक्तः सः तुर्यकः॥९९॥

परम आनन्द प्रदायिनी भक्ति बुधजनों द्वारा परा भक्ति कही जाती है। योग शास्त्र में पारङ्गत समाधिस्थ योगियों द्वारा वह प्राप्त की जाती है।

त्रैगुण्य भेदसे भक्त भी तीन प्रकारके माने जाते हैं:—१—आर्त्त, २—जिज्ञासु और अर्थार्थी। इसके अतिरिक्त त्रिगुणातीत योगी पुरुष जो पराभक्ति का अधिकारी होता है, ज्ञानिभक्त कहलाता है। यह भक्तका चौथा भेद है।

उपासकाःस्युस्त्रिविधास् त्रिगुणास्यानुसारतः।
ब्रह्मोपासक एवात्र श्रेष्ठः प्रोक्तो मनीषिभिः ॥१००॥
सगुणोपासना या स्यादवतारप्रपूजनम्।
विहिता ब्रह्मबुद्ध्या चेदत्रैवान्तर्भवन्ति ताः ॥१०१॥
सकाम - बुद्धया विहितं देवर्षिपितृपूजनम्।
द्वितीय श्रेणिका ज्ञेयास्तत्कर्त्तारस्था पुनः ॥१०२॥
तृतीया श्रेणिकास्ते स्युः क्षुद्रशक्तिसमर्चकाः।
प्रेताद्युपासनं चैव निम्नश्रेणिकमुच्यते ॥१०३॥
ब्रह्मोपासनमेवात्र मुख्यं परममङ्गलम्।
निःश्रेयसकरं ज्ञेयं सर्वश्रेष्ठं शुभावहम् ॥१०४॥

त्रिगुण भेदसे उपासक तीन प्रकारके होते हैं। मनीषियोंके द्वारा ब्रह्मोपासक ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। ब्रह्म बुद्धिसे सगुणोपासना और ब्रह्म बुद्धिसे अवतारोपासना इसी श्रेणीके अन्तर्गत आती है।

सकाम बुद्धि से ऋषियों, देवों और पितरोंको उपासना द्वितीय श्रेणीमें आती है। इस प्रकारके उपासक भी द्वितीय श्रेणोके उपासक हैं। क्षुद्रशक्तियोंके और उपदेवताओंके तथा प्रेत आदिकी उपासना तृतीय श्रेणीकी मानी जाती है। इनके उपासक भी इसी श्रेणीके होते हैं।

ब्रह्मकी उपासना ही मुख्य है। परममङ्गलदायिनी है। मुक्तिप्रद है तथा सभी शुभोंकी संविधात्री है। अतएव उसे सर्वश्रेष्ठ जानना चाहिये।

अथ शुद्धिवर्णनम्

काय-चित्त—दिशास्थानभेदात् शुद्धिश्चतुर्विधा।

यद्वा

स्थानशुद्धिश्च दिक्शुद्धिर्बाह्यशुद्धिस्तथैव च ॥१०५॥
अन्तःशुद्धिरिति प्रोक्तास्ताश्चतस्रो यथाक्रमम्।
स्थानशुद्धया पुण्यवृद्धिः पावित्र्यंञ्च प्रजायते ॥१०६॥

शरीर, चित्त, दिक् और स्थान भेदसे शुद्धि चार प्रकार की होती है।

अथवा

स्थान शुद्धि, दिक्शुद्धि, बाह्यशुद्धि और अन्तःशुद्धि ये चार प्रकारकी शुद्धियों के नामसे भी क्रमशः जानी जाती हैं।

दिक्शुद्धचा शक्त्यधिगमो बाह्यशुद्धचात्महृष्टता।
इष्टदेवकृपाप्राप्तिश्चान्तःशुद्धचेष्ट-दर्शनम् ॥१०७॥
समाधिसिद्धिर्भवति, योगी सिद्धीः समाचरेत् ॥१०८॥

स्थान शुद्धिसे पुण्यकी वृद्धि होती है तथा पवित्रता उत्पन्न होती है। दिशाकी शुद्धि से शक्तिकी प्राप्ति होती है। ब्राह्यशुद्धिसे आत्मामें हर्षकी अनुभूति होती है। साथ इष्टदेव की कृपा प्राप्त होती है। अन्तःशुद्धि से इष्टका दर्शन और समाधिकी सिद्धि होती है। योगी का यह परम कर्त्तव्य है कि इन चारों प्रकार की शुद्धियोंका पालन करे।

दिक् शुद्धिः

आसीनः प्राङ्मुखो नित्यं जपं कुर्याद्यथाविधि।
रात्रावुदङ् मुखः कुर्याद्दैवं कार्यं सदैव हि ॥१०९॥
दिक्शुद्धचा साधकः सिद्धिं साधने लभतेऽञ्जसा।
मनश्च वश्यतां यातीत्यतः कार्या प्रयत्नतः ॥११०॥

नित्य पूरब की ओर मुंहकरके यथा विधि जप करना चाहिये। रात्रि में उत्तरकी ओर मुँहकर देवकार्य पूरा करना चाहिये। दिक् शुद्धि द्वारा साधक अनायास ही शीघ्रतापूर्वक साधन की सिद्धि प्राप्त कर लेता है। मन भी शीघ्र ही वशीभूत हो जाता है। अतः प्रयत्न पूर्वक दिक् शुद्धि करनी चाहिये।

स्थान-शुद्धिः

गोमयेन यथा स्थानं कायो गङ्गोदकेन च।
पञ्चशाखायुतो देशस्तथा सिद्धिप्रदायकः ॥ १११ ॥
गोशाला, वै गुरोर्गेहं देवायतनकाननम्।
पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं सदा पूतं प्रकीर्त्तितम् ॥ ११२ ॥

जैसे गायके गोबरसे लिपीपुती भूमि और गङ्गाजलसे शरीर पवित्र होता है, उसी तरह पाँच शाखाओंसे युक्त स्थान भी पवित्र और सिद्धि प्रदान करनेवाला होता है। पञ्चशाखाओंमें पीपल, बरगद, बिल्व, आँवला और अशोक आते हैं। इन वृक्षोंका तल प्रदेश, सदा पवित्र होता है।

गोशाला, गुरुदेवका घर, देवमन्दिर, नदीका किनारा और पुण्य क्षेत्र सदा पवित्र माने जाते हैं।

कायशुद्धिः

स्नानमूलाः क्रियाः सर्वाः श्रुतिस्मृत्युदिता नृणाम्।
तस्मात् स्नानं निषेवेत श्री-पुष्टयारोग्यवर्द्धनम् ॥११३॥
मान्त्रं (१) भौमं(२)तथाग्नेयं(३)वायव्यं (४)दिव्यमेव(५) च।
वारुणं (६) मानसं (७) चैव सप्तस्नानं प्रकीर्त्तितम् ॥११४॥
आपोहिष्ठादिभिर्मान्त्रं, भौमं देहप्रमार्जनम्।
आग्नेयं भस्मना स्नानं, वायव्यं गोरजःस्मृतम् ॥११५॥
यत्तदातपवर्षेण स्नानं दिव्यमिहोच्यते।
वारुणं चावगाहः स्यान्मानसं विष्णुचिन्तनम् ॥ ११६ ॥

सारी साधनकी क्रियायें स्नानमूलक होती हैं—यह शास्त्रीय सिद्धान्त है। श्रुतियाँ और स्मृतियाँ भी यही कहती हैं। इसलिये श्री, पुष्टि और आरोग्य प्रदान करने वाला स्नान अवश्यकर्त्तव्य है।

स्नान सात प्रकारके होते हैं---१ मान्त्र, २—भौम, ३—आग्नेय ४—वायव्य, ५—दिव्य, ६—वारुण और ७—मानस।

आपोहिष्ठा-आदि मन्त्रोंसे किया हुआ स्नान मान्त्र स्नान है। घर्षणस्नानको भौम स्नान कहते हैं। भस्म द्वारा स्नानको आग्नेय, गो खुरोंसे उड़ती धूलसे स्नान वायव्य, वर्षा भी हो और धूप भी हो उस समयका स्नान दिव्य स्नान कहलाता है। जलमें अवगाहन करते हुए नहाना वारुण स्नान है। विष्णु का चिन्तन ही मानस स्नान है।

अनन्तादित्यसङ्काशं वामदेवं चतुर्भुजम्।
शङ्ख-चक्र-गदा-पद्ममुकुटं शेषशायिनम् ॥ ११७ ॥
प्रभूतसत्त्वसम्पन्नं ध्यायेन्नारायणंविभुम्।
अथ स्नानं प्रकुर्वीत यथाशास्त्रविधिः स्मृतः ॥११८॥

अनन्त सूर्योंके समान देदीप्यमान, वामदेव, चारभुजाओं वाले, शङ्ख-चक्र गदा और पद्म धारण करनेवाले, अत्यन्त सत्त्वगुण सम्पन्न विभु अर्थात् सर्वसमर्थसर्वव्यापक नारायण भगवान्का ध्यान करना चाहिये। यह मानस ध्यान है।

मल - प्रक्षालनं स्नानं स्वशाखोक्तं समाचरेत्।
ताम्रपात्रं सदूर्वं च सतिलं सजलं तथा ॥११९॥
गृहीत्वा स्वेष्टदेवस्य प्रीतये स्नानमाचरेत्।
गुरुपङ्क्तिं तु सन्तर्प्य तर्पयेदिष्टदेवताम् ॥१२०॥
मान्त्रंस्नानं साधको वै नित्यं कुर्याद्यथाविधि ॥१२१॥

मल प्रक्षालनको ही स्नान कहते हैं। स्नान शास्त्र विधिके अनुसार और अपनी शाखामें कहे गये नियमोंके अनुसार करना चाहिये।

जलसे भरे ताँबेके घड़ेमें दूब और तिल डालकर उसीसे अपने इष्ट-देवताकी प्रीतिके लिये स्नान करे।

गुरुवृन्दका सन्तर्पणकर इष्टदेवका सन्तर्पण करे। साधक विधिपूर्वक नित्य मान्त्र स्नान करे।

अन्तः शुद्धिः

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१२२॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वगृध्नुत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥१२३॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदो दैव्यश्चित्तनैर्मल्यकारणम् ॥१२४॥

निर्भयता चित्तप्रसन्नता, ज्ञानयोग अर्थात् आत्मज्ञान उपलब्धिके उपायोंमें तीव्रनिष्ठा, दान, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, वेद और वेदसम्मत वेद-शास्त्रका पाठ, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्मफलमें अनासक्ति, चित्तशान्ति, अपैशुन अर्थात् पिशुनता (दुष्टता) का त्याग, प्राणियों पर दया, अलोलुपता, निरहङ्कारभावना, लज्जावोध (कुकर्मसे), अचाञ्चल्य, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, निर्विरोध अपनेको बड़ा न माननेका भाव अर्थात्

मैं पूज्य हूँ, योगी हूँ आदि अपने अन्दर अहंकार मात्सर्य का परित्याग ये ऊपर कहे गये सभी गुण दैवी सम्पत्ति हैं। इनके अभ्याससे अन्तःकरण निर्मल होता है

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य विद्यात् सम्पद मासुरीम् ॥१२५॥
दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरो मता।
दैवीसम्पत्तिमासाद्य निस्त्रैगुण्यो भवेत् सुधीः ॥१२६॥

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता, अज्ञान आदि दुर्गुण जिनके हैं—ये दुर्गुण आसुरी सम्पत्ति हैं। दैवी सम्पत्तिसे मुक्ति मिलती है और आसुरी सम्पत्ति आवागमनके बन्धनमें डालने वाली होती है। बुद्धिमान् मनुष्य दैवी सम्पत्ति प्राप्तकर तीनों गुणोंके ऊपर उठ जाता है। इसीलिये सर्वदा दैवी सम्पत्ति का अभ्यास करना चाहिये।

आसनवर्णनम्

प्रधानतो मन्त्रयोग आसने द्वे हितप्रदे।
पद्मं च स्वस्तिकं चैव तथा तच्छुद्धिरुच्यते ॥१२७॥
भेदशुद्धि-क्रियाभ्यासादासनं शुद्ध्यति ध्रुवम्।
यत्रास्यते साधकेन भेदास्तस्य पृथक् पृथक् ॥१२८॥
वेदेषु तन्त्रेषु तथा कथिता मुनिपुंगवैः।
सकामाकामभेदेनोपासनायाश्च भेदतः।
कामना तारतम्याच्च निर्णीतान्यासनानि वै ॥१२९॥

मंत्रयोगकी दृष्टिसे प्रधानतः दो आसन हित कारक माने जाते हैं:—
१—पद्मासन और २—स्वस्तिकासन। भेद, शुद्धि और क्रियाके अभ्यास द्वारा निश्चय ही आसनकी शुद्धि होती है। साधक जिन आसनों पर बैठ-कर अभ्यास करता है, वेद, तन्त्र और श्रेष्ठमुनि उन आसनोंके भेदोपभेद का निरूपण करते हैं। सकाम, निष्काम विचार, उपासना पद्धति और कामनाके तारतम्यके अनुसार आसनोंके भेद निर्णीत किये गये हैं।

धारणाशुद्धितो मन्त्रोच्चारणादपि शुध्यति।
आसनं तच्च द्विविधं कर्मोपासनभेदतः ॥१३०॥

बहुशो वर्णितं कर्मोपासनाकांडयोः स्फुटम् ।
निर्णीतमासनविधिविज्ञानं विधिपूर्वकम् ॥१३१॥
परात्मदर्शिभिः पूर्वैर्हठयोगविशारदैः ।
योगिनां श्रेयसे सिद्धिरासनस्य प्रकीर्त्तिताः ॥१३२॥

धारणाकी शुद्धि और मन्त्रके उच्चारण से आसन शुद्ध होते हैं। ये दो प्रकारके हैं—१—कर्म और २—उपासनाके आसन। कर्म और उपासना-काण्डोंमें इनके विषयमें पर्याप्त वर्णन है। परमात्मशक्तिके द्रष्टा, हठ योगमें विशारद योगियोंने योगियोंके कल्याणके लिये आसन सिद्धिका वर्णन किया है।

आसन भेदवर्णनम्

सुचैलं काम्बलं कौशं सिंहव्याघ्रमृगाजिनम् ।
एतेषामासनं शुद्धं सिद्धये वै फलाय च ॥१३३॥
काम्यार्थं काम्वलं चैव श्रेष्ठं च रक्तकम्बलम् ॥
कृष्णाजिने ज्ञानसिद्धि मोक्षः स्याद् व्याघ्रचर्मणि ॥१३४॥
कुशासने भवेदायु श्चैलं व्याधिविनाशनम् ।
योग - सिद्धि प्रदाने तु चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥१३५॥

पट्टवस्त्र, कम्वल, कुश, सिंह-व्याघ्रचर्म इनके आसन सिद्धिके और उत्तम फलके लिये अच्छे होते हैं और शुद्ध होते हैं।

काम्यकर्मके लिये कम्बलका आसन ठीक है परन्तु रक्त कम्बलका आसन अत्यन्त ही श्रेष्ठ है। कृष्णसार मृगका चर्म ज्ञानसिद्धि और व्याघ्र चर्मका आसन मोक्षप्रद होते हैं। कुशासन पर क्रिया सम्पन्न करनेसे आयु बढ़ती है। पट्टवस्त्र (रेशमी आसन) व्याधिका उपशम करता है। पहले चैल फिर मृगचर्म और ऊपरसे कुश इस तरह तीन तरहका सम्मिलित आसन योगसिद्धि प्रदान करता है।

धरण्यां दुःखसम्भूतिः दौर्भाग्यं दारुजासने ।
वंशासने दरिद्रः स्यात् पाषाणो व्याधिपीड़नम् ॥१३६॥
तृणासने यशोहानिः पल्लवे चित्तविभ्रमः ।
जपध्यानतपोहानिर्वसनासनतो भेवत् ॥१३७॥
नादीक्षितो विशेषाज्जातु सिंहव्याघ्राजिने गृही ।
उदासीनवदास्येत स्नातकब्रह्मचारिभिः ॥१३८॥

जमीनके आसन पर दुःखकी उत्पत्ति, काष्ठके आसन पर दौर्भाग्य और बाँसके आसन पर साधक दरिद्र होता है। चटाईके आसन पर यशकी हानि और पाषाणके आसन पर रोग और पीड़ा होती है। पत्तोंके आसन पर चित्त चंचल हो उठता है।

कपड़ोंके आसनपर जप, ध्यान और तपस्या की हानि होती है। जिसे दीक्षा नहीं हैं—वह बिना गुरुदेवकी आज्ञासे सिंह और बाघ चर्मके आसन पर न बैठे। स्नातक और ब्रह्मचारी भी उदासीन की तरह ही बैठें।

पृथिवीमन्त्रस्य च ऋषिर्मेरुपृष्ठ उदाहृतः।
सुतलं च तथा छन्दः कूर्मोदेवोऽस्य कीर्त्तितः ॥१३९॥
आसने विनियोगःस्यादासने सुखदे विशेत्।
जपार्चनादिकं कुर्यादन्यथा निष्फलं भवेत् ॥१४०॥

'पृथिवी' इस मन्त्रके मेरुपृष्ठ ऋषि हैं। सुतल छन्द कूर्म देवता हैं और आसन शुद्धिके लिये इस मन्त्रका विनियोग होता है। इस प्रकार सुखद आसन पर बैठकर साधना-उपासना करनी चाहिये। जप और पूजा आदि करनी चाहिये। अन्यथा सारा किया कराया निष्फल हो जाता है।

पञ्चाङ्गसेवनवर्णनम्

गीता सहस्रनामानि स्तवः कवचमेव च।
हृदयं चेति पच्चैते पञ्चाङ्गं प्रोच्यते बुधैः ॥१४१॥
स्वोपासनानुसारेण गीतायाः पठनाद् ध्रुवम्।
सहस्रनामाध्ययनात् स्वपद्धत्यनुसारतः ॥१४२॥
स्तोत्रस्य कवचस्यापि हृदयस्य च पाठतः।
योगसिद्धिमवाप्नोति योगी विगतकल्मषः ॥१४३॥

गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदय ये शास्त्र पारङ्गत विद्वानों द्वारा पाँच अंग माने जाते हैं। अपनी अपनी उपासनाके अनुसार गीताका पाठ करना चाहिये। पाँचों उपासनाके अनुसार गीता पाँच प्रकारकी मानी जाती है। १—भगवद्गीता, २—गणेश गीता, ३—भगवती गीता, ४—सूर्य गीता और ५—शिव गीता। इनके अनुसार ५ सहस्रनाम भी हैं। साथ ही विविध पद्धतियोंके अनुरूप उपासना मूलक स्तव, कवच और हृदय भी पृथक् पृथक् हैं।

इन उपासना पद्धतियों में परम्परासे जो क्रम अपने कुलमें स्वीकृत हो—उसके करनेसे योगी योगसिद्धि प्राप्त करना है और समस्त किल्बिषों (पापों) से मुक्त हो जाता है।

गीता पञ्चविधा प्रोक्ता पञ्चोपासनभेदतः।
भगवत्सूर्यशक्तीनां गणेशस्य शिवस्य च ॥१४४॥
तथा सहस्रनामाद्याः विविधाः परिकीर्त्तिताः।
अनेकोपासनाभेदा द्विज्ञेया गुरुदेवताः ॥१४५॥
गीतासु वर्णितं ह्येकं जगज्जन्मादिकारणम्।
विचित्रभावशबलं विज्ञानं ब्रह्मणः स्फुटम् ॥१४६॥
ब्रह्मोपासनतां यान्ति यतः पञ्चाप्युपासनाः ॥१४७॥

विष्णु, सूर्य, शक्ति, गणेश और शिव ये पाँच उपास्य देव प्रसिद्ध हैं। इस सिद्धान्तको पञ्चोपासना सिद्धान्त कहते हैं। इनके अनुसार ही गुरु और देवता जानना चाहिये।

समस्त गीताओंमें संसार की उत्पत्तिका एक मात्र कारण क्या है—यह स्पष्ट किया गया है। विचित्र भावोंके वैचित्र्यसे ब्रह्म विज्ञानको स्फुट किया गया है। तथ्य यह है कि पाँचों उपासनायें ब्रह्मकी उपासनामें ही अन्तर्निहित हैं।

आचारवर्णनम्

आचारस्त्रिविधः प्रोक्तः साधकानां मनीषिभिः।
दिव्यदक्षिणवामाश्चाधिकाराः सप्त कीर्त्तिताः ॥१४८॥
सप्ताधिकारा विदुषः साधकस्य मता इमे।
दीक्षा ततो महादीक्षा पुरश्चरणमेव च ॥१४९॥
ततो महापुरश्चर्याऽभिषेकस्तदनन्तरम्।
षष्ठो महाभिषेकश्च तद्भावोऽन्तिम ईरितः ॥१५०॥

आचार तीन प्रकारका कहा गया गया है। साधकोंके लिये आचार आवश्यक है—यह मनीषी लोग कहते हैं। वे हैं—१—दिव्य, २—दक्षिण और ३—वाम। आचार साधकोंके अधिकार भी सात प्रकारके कहे गये हैं। वे हैं—१—दीक्षा, २—महा दीक्षा, ३—पुरश्चरण, ४—महापुरश्चरण, ५—अभिषेक ६—महाभिषेक और ७—तद्भाव।

साधकोऽनेन लभते मोक्षं नास्तीह संशयः ।
एषां सप्ताधिकाराणां नामानि विविधानि वै ॥१५१॥
तन्त्रादिशास्त्रे कथितान्याचारस्यानुसारतः ।
परस्परं विप्रतीपावाचारौ वामदक्षिणौ ॥१५२॥
द्वयोरभिन्नलक्ष्यत्वेऽप्येकः प्रवृत्तिनिष्ठितः ।
निवृत्तिनिष्ठो ह्यपरः प्रवृत्तिर्हि निसर्गजा ॥१५३॥
महाफला निवृत्तिस्तु विज्ञेया वेदवादिभिः ।
अतो ह्युपासनायां वै आचारो द्विविधो मतः ॥१५४॥

साधक इससे मोक्ष प्राप्त करते हैं—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। आचारके अनुसार तन्त्र आदि शास्त्रोंमें इन सातों अधिकारोंके अनेक नाम दिये गये हैं।

वाम और दक्षिण नामक दोनों आचार परस्पर विपरीत हैं। यद्यपि दोनोंके लक्ष्य अभिन्न हैं, फिर भी एक प्रवृत्ति परक है और दूसरा निवृत्ति-मूलक। प्रवृत्ति तो स्वाभाविक होती है किन्तु निवृत्ति महाफल प्रदान करने वाली होती है। यह वेद सिद्धान्त वादी जानते हैं। इसलिये उपासनामें दो प्रकारके आचार स्वीकृत हैं।

उपासनांतर्भावा वै त्रिविधाश्चापि शुद्धयः ।
आचारैः परिचीयन्ते प्रोक्तमेतन्मनीषिभिः ॥१५५॥
स्वाचार - भेदा विज्ञेया गुरुदेवोपदेशतः ।
निवृत्तिमार्गपथिकाः रता यत्र निसर्गतः ॥१५६॥

उपासनामें तीन शुद्धियाँ भी अन्तर्भूत हैं। मनीषी लोग कहते हैं कि ये भी आचारसे पहचानी जाती हैं। गुरुदेवके उपदेशके अनुसार ही अपने आचारका भेद जानना चाहिये। निवृत्तिमार्ग पर चलने वाला साधक स्वभावतः इसका पालन करते हैं।

दिव्याचारः स भवति यत्तृतीयतया मतः ।
द्वौ वाम दक्षिणाचारौ विरुद्धौ हि परस्परम् ॥१५७॥
दिव्याचारो नो विरुद्धः सर्वजीवहितप्रहः ।
वामः प्रवृत्तिपरको दक्षिणस्तु निवृत्तिगः ॥१५८॥
दिव्याचार उभाभ्यां वै परः श्रेयस्करो मतः ॥१५९॥

दिव्याचार वह है, जो तीसरे तरह का है। वाम और दक्षिण आचार तो परस्पर विरुद्ध हैं। दिव्याचार विरुद्ध नहीं अपितु सभी जीवों का हित-कारक है। वाम आचार प्रवृत्तिपरक और दक्षिण मार्ग निवृत्तिपरक होता है। दिव्याचार इन दोनों से अलग है और जीवों के लिये श्रेयस्कर है।

लता साधनम्

उपासनाविधौ यस्तु भावो बाह्यक्रियाश्रयः।
आचारः कथ्यते सोऽसौ तन्त्रशास्त्रप्रवर्त्तकैः ॥१६०॥
विष्णु सूर्य-गणेशानां शिवस्योपासनासु च।
चतसृधर्माचारो भवत्येकविधः सदा ॥१६१॥
द्विविधस्तु भवत्येष वामदक्षिण - भेदतः।
आचारः शक्तिपूजायां सर्वतन्त्रानुसारतः ॥१६२॥
शक्तिप्राधान्यतश्चास्मिन् शक्तिपूजा विधौ नृणाम्।
साधना-सुविस्तारः क्रियते तत्त्वदर्शिभिः ॥१६३॥

उपासना प्रक्रियामें बाह्यक्रियाओं पर आश्रित भाव ही आचार कहे जाते हैं। विष्णु, सूर्य, गणेश और शिव इन चारोंके धार्मिक आचार एक प्रकारके ही होते हैं किन्तु सभी यन्त्रों के अनुसार शक्ति पूजामें वाम और दक्षिण यही दो भेद स्वीकृत हैं। शक्ति पूजामें शक्तिकी प्रधानताके कारण तत्त्वदर्शी महापुरुषोंके कथनानुसार साधनाका विस्तार होता है

अधिकारोऽत्र पूजायां द्विविधो दृश्यते तथा।
तन्त्रेषु बहुविस्तारः शक्तिपूजाविधेरभूत् ॥१६४॥
दक्षिणाचारतो योऽयं विपरीतो भवेदिह।
वामाचारः स विज्ञेयस्तन्त्रशास्त्रविशारदैः ॥१६५॥
जने सत्त्वप्रधाने तु सत्त्वाचारः प्रशस्यते।
पश्वाचारो रजोमुख्यो वामाचारश्च तामसे ॥१६६॥
वामाचारस्तु योऽयं वै वीराचारः स कथ्यते।
लोककल्याणसिद्ध्यर्थं निर्णीतोऽसौ कलौ युगे ॥१६७॥

पूजामें दो प्रकारके अधिकार दिखाई पड़ते हैं। शक्तिपूजाकी विधिका तन्त्रोंमें बड़ा विस्तार हुआ। दक्षिणाचारके विपरीत जो आचार है, वह वामाचार कहलाता है। तन्त्रशास्त्रके विशारद यह कहते हैं। सत्त्व प्रधान

मनुष्यके लिए दिव्याचार ही प्रशस्त होता है। पश्वाचार रजः प्रधान होता है। वामाचार तामस जनके लिये हितकर है। वामाचारको ही वीराचार भी कहते हैं। कलियुगमें लोक कल्याणके लिए इसका विधान किया गया है।

स्वां स्वां प्रकृतिमाश्रित्य जोवाः परवशाः कलौ।
वामाचारमनुष्ठाय लप्स्यन्ते शुभमव्ययम् ॥१६८॥
एवं प्रवृत्तिकार्येषु निवृत्तेर्लक्ष्यतावशात्।
नूनं प्रवृत्तिचेष्टासु घोरास्वपि च साधकः ॥१६९॥
प्रभवेत् साधितुं सिद्धिमात्मनश्चोन्नतिं सदा।
वामाचाररहस्यं वै ह्येतन्मुनिसमादृतम् ॥१७०॥
वामाचारक्रियामुख्यं लतासाधनवर्णनम्।
विहितं तन्त्रमर्मज्ञैः प्रायशः शक्त्युपासने ॥१७१॥

कलियुगमें अपनी अपनी प्रवृत्तिके वशीभूत जीव आचारका पालनकर अक्षय कल्याण प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकारकी क्रियाओंके बोच निवृत्ति का लक्ष्य रहनेपर निश्चय ही अत्यन्त घोर प्रवृत्तिकी चेष्टाओंमें भी साधक आत्मोन्नतिकी सिद्धिको सिद्ध करनेमें समर्थ होता है। प्रायः तन्त्रोंमें वामाचारके रहस्य रूप और वामाचारकी क्रियाओंमें मुख्य लतासाधनका वर्णन किया गया है। विशेष रूप शक्तिकी उपासनामें इसका मुख्य स्थान है।

अन्येषु सम्प्रदायेषु युग्मोपासनवर्णना।
विहिता यत्रतत्रैव क्रियेयमुपवर्णिता ॥१७२॥
यथा द्वैविध्यमापन्नो दक्षिणाचार उच्यते।
वामाचारस्तथा चाष्टौ भेदाःप्रोक्ता हि तान्त्रिकैः॥१७३॥
वामाचाराधिकारः स्युः सप्त वै परिकीर्त्तिताः।
प्राप्यन्ते साधकैस्ते हि गुरुदेव-कृपावशात् ॥१७४॥
महाभिषेके प्राप्नोति साधकः परिपूर्णताम्।
शून्यो विधि निषेधाभ्यां जीवन्मुक्तो भवेत्ततः ॥१७५॥

वैष्णव आदि अन्य चार सम्प्रदायोंमें युगल उपासनाका जहाँ वर्णन किया गया है, उन्हीं-उन्हीं स्थानोंपर इन क्रियाओंका वर्णन है। दक्षिणाचारके जैसे दो भेद बतलाये गये हैं, वैसे ही तान्त्रिकलोग वामाचारमें आठ

भेद मानते हैं। इसी आचारमें सात अधिकार भी निर्दिष्ट हैं। गुरुदेवकी कृपासे ही साधकोंको ये अधिकार प्राप्त होते हैं। महाभिषेक दीक्षामें साधक परिपूर्णता प्राप्त करता है। साथही विधिनिषेधके स्तरसे ऊपर उठकर जीवन्मुक्त हो जाता है।

तथा गुरुकृपां प्राप्य तत्सारूप्यं प्रपद्यते।
प्राधान्यं चात्र तत्वानां पञ्चानां हि विधीयते ॥१७६॥
गीयन्ते पञ्चतत्त्वानि शक्तिरूपाणि निश्चितम्।
अन्यत्र ब्रह्मरूपाणि तत्त्वानि कथितानि तु ॥१७७॥
अत्र सर्वं शक्तिमयं तत्साहाय्यात् परं पदम्।
प्राप्तुं यत्नः परो लक्ष्यः साधकस्यास्य कीर्त्तितः ॥१७८॥
मनो वीर्यं तथा वायुः कारणं स्थूलसूक्ष्मतः।
भवन्ति त्वेकरूपाणि शक्तिरूपाणि चैव हि ॥१७९॥

तथा गुरुकी कृपा पाकर उसका सारूप्य प्राप्त करते हैं। इस आचार में पञ्चतत्त्वोंका प्राधान्य विहित है। पञ्चतत्व शक्तिरूप हैं यह निश्चित है। दूसरे आचारोंमें सभी तत्व ब्रह्मरूप कहे गये हैं। इस आचारमें सब कुछ शक्तिमय माना जाता है। उसीको कृपासे परम पदकी प्राप्ति होती है। इस साधकका सबसे बड़ा लक्ष्य परम पद प्राप्त करना ही है। मन, वायु एवम् वीर्य ये तीनों कारण, सूक्ष्म और स्थूलरूपोंमें एक ही हैं और शक्ति स्वरूप हैं।

स्थूल शक्ति विजित्याशु सूक्ष्मशक्तेः पराजयात्।
कृपालाभो हि शक्तेश्च मुख्यो लक्ष्योऽस्यकीर्त्तितः॥१८०॥
शक्तेःस्थूल - विभूतीनां पूजनात्तत्कृपावशात्।
सेवनात् पञ्च तत्त्वानां साफल्यं स्यादुपासने ॥१८१॥
ऊर्ध्वं रेतस्त्वसं प्राप्त्या मनसो वै पराजयः।
तन्मात्राणां वशीकारात् जित्वा सर्वांश्च वृत्तिकाः॥१८२॥
स्व-स्वरूपोपलब्धिर्हि लक्ष्यश्चास्यान्तिमं स्मृतम् ॥१८३॥

स्थूल शक्ति पर जय प्राप्त कर सूक्ष्म पर विजय करना और कारण-शक्तिकी कृपा प्राप्त करना इस आचारका मुख्य लक्ष्य है। शक्तिकी स्थूल विभूतियोंके पूजनसे और उनकी कृपासे तथा पञ्चतत्त्वोंके सेवनसे उपासना

सफल होती है। ऊर्ध्वरेता होनेसे मन पर विजय और तन्मात्राओंके ऊपर विजयसे सारी वृत्तियोंको जीतकर अपने स्वरूपकी उपलब्धि हो जाती है। यही इस आचार का अन्तिम लक्ष्य है।

सप्ताधिकार प्रकरणम्

यदोपदिश्यते मन्त्रं शिष्यं कृत्वा दयां गुरुः।
स एव दीक्षासंस्कारो वर्णितो मुनिपुंगवैः ॥१८४॥
ततस्तु साधकं योग्यं ज्ञात्वा प्रारभते गुरुः।
गुरुलक्ष्यसमायुक्ता क्रिया योगस्य शोभनाः ॥१८५॥
उपदेष्टुं निजं शिष्यं तदा नद्धं प्रतिज्ञया।
कथितेयं महादीक्षा तत्त्वशास्त्रविशारदैः ॥१८६॥
गुरुलक्ष्यसमायुक्तसाधनेनेह साधकः।
येन क्रमेण संसिद्धिं मन्त्रस्याप्नोति शर्मदाम् ॥१८७॥
तदेवात्र महाधीभिः पुरश्चरणमीरितम् ॥१८८॥
ग्रहणादि शुभेकाले रीत्या सामान्यया किल ॥
क्रियते यो मन्त्रजपः, तत्पुरश्चरणं मतम् ॥१८९॥

शिष्यके ऊपर कृपाकर गुरु मन्त्रका उपदेश करते हैं। श्रेष्ठ मुनिजन उसे दीक्षा संस्कार कहते हैं। इसके बाद शिष्यको साधनाके उपयुक्त देखकर गुरु लक्ष्यके सहित क्रिया योगका उपदेश करते हैं। गुरु देवकी इस कृपा युक्त प्रक्रियाको महादीक्षा कहते हैं। गुरु एवं लक्ष्य युक्त साधनके द्वारा साधक जिस क्रमसे सुखप्रद मन्त्रको सिद्धि प्राप्त करता है—उसी प्रक्रियाको 'पण्डितवर्ग पुरश्चरण कहता है। इसी तरह ग्रहण आदिके समय समय सामान्य रीतिसे जो मन्त्र जप किया जाता है, वह भी पुरश्चरण कहलाता है।

क्रियाविशेषसंसाध्या कालसाध्योपदेशतः।
साध्या च या पुरश्चर्या सा महादिः प्रकीर्त्तिता ॥१९०॥
लब्ध्वा सिद्धिं पुरश्चर्याद्वारा साधक उन्नतः।
अधिकारी यदा यातः सद्गुरोः कृपया तदा—॥१९१॥
योग्यं ज्ञात्वाऽऽनन्दराज्ये रहस्यमनुशास्ति तम्,
एषोऽभिषेको विद्वद्भिस्तान्त्रिकैः परिकीर्त्तितः ॥१९२॥

विशेष क्रिया द्वारा एवं विशेष कालमें गुरुदेवके उपदेशसे जो पुरश्चर्या सिद्धकी जाती है उसे महापुरश्चर्या कहते हैं। सिद्धि प्राप्तकर साधकका स्तर उन्नत हो जाता है। वह अधिकारी हो जाता है। गुरुकी उसपर विशेष कृपा होती है। फलतः गुरु उसे योग्य जानकर आनन्द राज्यका अधिकारी बना देते हैं तथा तन्त्रके और साधनाके रहस्योंका उपदेश कर देते हैं। इस परम रहस्यमयी दीक्षाको अभिषेक दीक्षा कहते हैं।

पञ्चदेवात्मकाः पञ्च सम्प्रदायाः श्रुताः श्रुतौ।
श्रूयन्तेऽस्यैव नामानि तेषु नूनं पृथक् पृथक् ॥१९२॥
अत्युन्नतैस्तु संस्कारैः संस्कृतं साधकं गुरुः।
स्वस्मिन् यदा मेलयति स महादिः प्रकीर्त्तितः ॥१९४॥
आध्यात्मिकोन्नतिद्वारोच्चावस्थां प्राप्य साधकः।
नामरूपैकता-ज्ञाने सामर्थ्यं लभते बहु ॥१९५॥
सर्वोत्तमाधिकारोऽयं बुधैस्तद्भाव इर्यते।
साधकोऽनेन भावेन स्वेष्टदेवैकतां दृढाम् ॥१९६॥
संस्थाप्यान्ते महाभावं लभते ब्रह्मविन्मतम् ॥१९७॥

पञ्चदेवात्मक ५ सम्प्रदायोंमें इस अभिषेक दीक्षाके स्वतन्त्र-स्वतन्त्र नाम सुने जाते हैं। श्री गुरुदेव जिस समय उच्चतम संस्कार द्वारा साधकको अपने समान कर आत्ममय बना लेते हैं, उस समय इस संस्कारको महाभिषेक कहते हैं। किसी-किसी तन्त्रमें इसे पूर्णाभिषेक कहते।

आध्यात्मिक उन्नति द्वारा उच्च अवस्था प्राप्त कर साधक नाम और रूप मात्रमें ऐक्यकी अनुभूति प्राप्त करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। यह सर्वोत्तम अधिकार है। यह अधिकार 'तद्भाव' कहलाता है। इस भावके द्वारा साधक अपने इष्टदेवसे दृढ़ ऐक्य स्थापित कर लेता है। अन्त में वह ब्रह्मज्ञानियों द्वारा अनुभूत महाभाव प्राप्त कर लेता है।

धारणा वर्णनम्

बाह्याभ्यन्तरभेदेन धारणा द्विविधा मता।
सहायतां प्रकुरुते मन्त्रयोगे हि धारणा ॥१९८॥
बाह्यवस्तुमनोयोगात् बाह्या भवति धारणा।
अन्तर्जगत्सूक्ष्मद्रव्य—मनो योगान्मताऽपरा ॥१९९॥
श्रद्धायोगसमभ्यासात् स्फुटं सिध्यति धारणा ॥२००॥

बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे धारणा दो प्रकार की होती है। यह मन्त्रयोगकी सिद्धिमें सहायक होती है। बाह्य जगत् की वस्तुओंमें मनोयोगसे 'बाह्य' धारण और अन्तर्जगत् की सूक्ष्म धृतियोंके योगसे 'आन्तर' धारण होती है। धारणा श्रद्धामूलक और योगाभ्यास मूलक होती है। और स्फुट होती है।

धारणाधिकारवर्णनम्

धारणसिद्धिमासाद्य सिद्धिं वै ध्यानमन्त्रयोः।
प्राप्नोति साधको नित्यं मन्त्रयोगपरायणः ॥२०१॥
भक्ति जंपस्य संसिद्धिराचारः प्राणसंयमः।
साक्षात्कारो देवतायाः दिव्यदेशेषु नित्यशः ॥२०२॥
देवशक्तिविकासो वै ह्मीष्टदर्शनमेव च।
लभ्यन्ते धारणासिद्धया सर्वाणीति विनिश्चयः ॥२०३॥
स्थूल-सूक्ष्मक्रिया या वै धारणासिद्धिलब्धये।
विज्ञेया योगमर्मज्ञात् गुरुदेवात् यथाविधि ॥२०४॥

धारणा सिद्धि प्राप्त कर मन्त्रयोग परायण साधक ध्यान और मन्त्रकी सिद्धि प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है। भक्ति, आचार, प्राणसंयम, जय सिद्धि, देवतासान्निध्य, दिव्यदेश आदिसे दैवी शक्तिका आविर्भाव एवम् इष्ट रूपदर्शन आदि सब धारणासिद्धिसे प्राप्तकी जा सकती हैं—यह निश्चित है। योगशास्त्रकी सूक्ष्म क्रियाओंको गुरुसे जान लेना चाहिये।

मन्त्रयोगसंस्कारवर्णनम्

जननं जीवनं पश्चात्ताडनं रोधनं तथा।
अथाभिषेको विमलीकरणाप्यायने पुनः ॥२०५॥
तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्रसंस्क्रियाः।
मन्त्राणां मातृकायन्त्रादुद्धारो जननं स्मृतम् ॥२०६॥
स्वर्णादिपात्रे संलेख्य मातृकायन्त्रमुत्तमम्।
काश्मीर चन्दनेनापि भस्मना वाथ सुव्रते ॥२०७॥
काश्मीरं शक्तिसंचारे चन्दनं वैष्णवे मनौ।
शैवे भस्म समाख्यातं मातृका-यन्त्र-लेखने ॥२०८॥

यन्त्राष्टदलपद्मो हि कार्यं पूर्वं यथाविधि ।
कादिमान्ताः पञ्चवर्गाः दिक्षु पूर्वादितो न्यसेत् ॥२०९॥
यादिवान्ताः शादिहान्ताः लक्ष्मीशे तु प्रविन्यसेत् ।
चतुरस्रं चतुर्द्वारं दिक्षु 'वं' 'ठं' विदिक्षु च ॥२१०॥

जनन, जीवन, ताड़न, रोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन तर्पण, दीपन, एवं गुप्ति इन दश संस्कारोंसे मन्त्र संस्कृत (संस्कार सम्पन्न) होता है । मातृका यन्त्रसे मन्त्रका उद्धार 'जनन' कहलाता है । मातृकायन्त्र केशर, चन्द अथवा भस्म द्वारा स्वर्ण आदि पात्रमें लिखना चाहिये । शक्ति उपासनामें केशरसे विष्णु उपासनामें चन्दनसे और शैवोपासनामें भस्मसे मातृका यन्त्रलेखन करना चाहिये । उक्त विधिसे अष्टदल कमल लिखना चाहिये । इसमें पूर्व आदिके क्रमसे आठ वर्गोंको अङ्कित करना चाहिये । कमलके बहिर्भागमें चार द्वार और चार कोण बनाकर उसे पुनः चतुष्कोणसे (चतुर्भुजसे) घेर देना चाहिये । चारों द्वारोंमें 'वं' और भीतरीकोणोंमें 'ठं' लिखना चाहिये ।

(अपिच) व्योमेन्द्वौ रसनार्णकर्णिकमचां द्वन्द्वैः स्फुरत्केशरम् ।
वर्गोल्लासि वसुच्छदं वसुमतीगेहेन संवेष्टितम् ॥२११॥
पङ्क्तिक्रमेण विधिना मुनिभिस्तत्र निश्चितम् ।
मन्त्रवर्णसमुद्धारः 'जननं' वै विधीयते ॥२१२॥
प्रणवान्तरितान् कृत्वा मन्त्रवर्णान् जपेत् सुधीः ।
प्रत्येकं शतवारं तु 'जीवनं' तदुदीरितम् ॥२१३॥
मन्त्रवर्णान् समालिख्य ताडयेच्चन्दनाम्भसा ।
प्रत्येकं वायुबीजेन पूर्ववत्ताडनं स्मृतम् ॥२१४॥
विलिख्य मन्त्रवर्णास्तु प्रसूनैः करवीरजैः ।
तन्मन्त्रवर्णसंख्याकैर्हन्यात् रोधनबोधनम् ॥२१५॥

व्योम अर्थात् 'ह' कार इन्दु अर्थात् 'स' कार 'औ' कार, रसनार्ण अर्थात् विसर्ग इनसे युक्त 'ह्सौः' मन्त्रको कर्णिकारूप पद्मके मध्यमें स्थापित कर दो दो स्वरोंसे कर्णिकाके ऊपर आठ दिशाओंके केशरोंको भरदेना चाहिये और एक वृत्तसे इन केशरोंको घेर देना चाहिये । इस तरह मातृका यन्त्र पूर्ण होता है ।

उक्त क्रमसे यन्त्र लिखकर पंक्ति क्रमसे प्रत्येक वर्णको प्रणव द्वारा संपुटितकर १००-१०० बार जपनेकी क्रियाको 'जीवन' संस्कार कहते हैं। मन्त्रवर्णोंको पृथक्-पृथक् लिखकर 'वं' बीजसे पुटित कर चन्दनोदकके प्रक्षेपको 'ताड़न' संस्कार कहते हैं। पुनः पृथक् पृथक् लिखकर 'वं' बीज बोलकर लाल कनैलके फूलोंसे हनन करनेको 'रोधन' संस्कार कहते हैं।

विलिख्याक्षरसंख्यातैरक्तपुष्प - हयाऽरिभिः ।
मन्त्रवर्णान् वह्निनैकमभिमन्त्र्य सकृत् सकृत् ॥२१६॥
तत्तन्मन्त्रोक्तविधिनाऽभिषेकस्तु प्रकीर्तितः ।
अश्वत्थपल्लवैः सिञ्चेन्मन्त्री मन्त्रर्णसंख्यया ॥२१७॥
सञ्चिन्त्य मनसा मन्त्रं सुषुम्ना—मूल—मध्यतः ।
ज्योतिर्मन्त्रेण विधिवद्दहेन्मलत्रयं यती ॥२१८॥
तारं व्योमाग्निमनुयुग् दण्डी ज्योतिर्मनुर्मतः ।
स्वर्णेन कुशतोयेन पुष्पतोयेन वा तथा ॥२१९॥
तेन मन्त्रेण विधिवदाप्यायनविधिः स्मृतिः ॥२२०॥

मन्त्रवर्णोंको लिखकर मन्त्राक्षर संख्याके अनुसार लाल कनेरके फूलोंसे 'व' बीजमन्त्रके द्वारा अभिमन्त्रितकर पीपलके पत्रोंसे अभिषिञ्चित करनेको 'अभिषेक' संस्कार कहते हैं। सुषुम्नाके मूल और मध्यमें मन्त्रचिन्तनकर ज्योतिमन्त्र (ॐ ह्रौं) से तीनों (आणव, कार्मण और मायिक)[1] मलोंको दग्ध करनेको 'विमलीकरण' बोलते हैं ये तीनों मल साधनमें बाधक होते हैं।

तार (ॐ) व्योम 'ह' अग्नि (र) मनु औ तथा दण्डी (म्) इनका योग 'ॐ ह्रौं' होता है। यह ज्योतिर्मन्त्र है। स्वर्णजल, कुशाजल अथवा पुष्पजल से मन्त्रवर्णोंको अभिमन्त्रितकरना 'आप्यायन' संस्कार है!

मन्त्रेण वारिणा मन्त्रे तर्पणं तर्पणं मतम् ।
मधुना शक्ति मन्त्रेषु वैष्णवे चेन्दुमज्जलैः ॥२२१॥
शैवे घृतेन दुग्धेन तर्पणं सम्यगीरितम् ॥२२२॥

---

१. मायिकं नाम योषोत्थं पौरुषं कार्मणं मलम् ।
आणव्यं तद्द्वयंप्रोक्तं निषिद्धमेतन्मलत्रयम् ॥

स्त्रीसे उत्पन्न मल मायिक, पुरुषसे उत्पन्न कार्मण और उभयसे उत्पन्नको आणव्य कहते हैं।

तारमायारमायोगौ मनोर्दीपनमुच्यते ।
जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपनं त्वप्रकाशनम् ॥२२३॥
संस्काराः दश सम्प्रोक्ताः सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।
यान् कृत्वा सम्प्रदायेन मन्त्री वाञ्छितमाप्नुयात् ॥२२२४॥

ज्योतिमन्त्रसे ही मन्त्रवर्णोको तृप्तकरना तर्पण कहलाता है। शक्ति-मन्त्रोंमें मधुसे, विष्णुमन्त्रोंमें इन्दु अर्थात् कपूर मिश्रित जलसे और शैवमन्त्रोंमें घृत और दुग्ध द्वारा तर्पण तन्त्रविशारदों द्वारा आदिष्ट है ।

तार 'ॐ' माया 'ह्री' रमा 'श्री' अर्थात् 'ॐ' ह्रीं श्रीं' द्वारा मन्त्रोंको शक्तिसम्पन्न करना 'दीपन' कहलाता है। जिस मन्त्रका जप करते हैं, उसे प्रकाशित नहीं करते हैं। इस गोपन क्रियाको 'मन्त्रगुप्ति' कहते हैं। यही ऊपर कहे गये दश मन्त्र-संस्कार हैं। सभी तन्त्रोंमें इनको गुप्त रूपसे व्यक्त किया गया है। इनका यथाविधि प्रयोग करनेपर मन्त्री साधक वाञ्छित फल प्राप्त करता है ।

दिव्यदेशवर्णनम्

यथा गवां सर्वशरीरजं पयः
पयोधरान्निःसरतीह केवलम् ।
तथा परात्माऽखिलगोऽपि शाश्वतो
विकासमाप्नोति स दिव्यदेशकैः ॥२२५॥
तन्त्रेषु दिव्यदेशाः षोडश प्रोक्ता यथाऽत्र कथ्यन्ते ।
अग्न्यम्बु लिङ्गवेद्यो भित्तौ रेखा तथा चित्रं च ॥२२६॥
मण्डल-विशिखौ नित्यं यन्त्रं पीठं च भावयन्त्रं च ।
मूर्तिविभूतिनाभी हृदयं मूर्धा च षोडशैते स्युः ॥२२७॥
यथाधिकारं लभते दिव्यदेशे ह्युपासनम् ।
योगसिद्ध्युपलब्धौ हि सहकारितया मता ॥२२८॥
धारणा सहकारेण दिव्यदेशे प्रकाशते ।
इष्टदेवो मन्त्रयोगे दिव्यदेशो हितप्रदः ॥२२९॥
वेदेषु तन्त्रशास्त्रेषु दिव्यदेशस्य वर्णना ।
भेदश्च वर्णितो विज्ञै विस्तरेण महात्मभिः ॥२३०॥

कुर्यादावाहनं मूर्त्तौ मृण्मयादौ सदैव हि।
प्रतिमायां जले वह्नौ नावाहनविसर्जने ॥२३१॥

जिस तरह गायका दूध गायके सारे शरीरमें व्यापक होता हुआ भी केवल थनकी छीमियोंसे ही बाहर निकलता है, उसी तरह परात्मा सारे शरीरमें व्यापक रहता हुआ भी दिव्यदेशमें ही विकास प्राप्त करता है।

तन्त्र शास्त्रमें दिव्यदेश १६ सोलह माने जाते हैं। वे यहाँ कथित है—अग्नि २—जल ३—लिङ्ग ४—स्थण्डिल, ५—कुण्ड, ६—पट, ६—मण्डल, ८—विशिख, ९—नित्ययन्त्र, १०—भावयन्त्र, ११—पीठ, १२—विग्रह, १३—विभूति, १४—नाभि १५—हृदय और १६—मूर्द्धा।

साधक अपने-अपने अधिकारोंके अनुसार इन दिव्यदेशोंमें उपासना करनेका अधिकार प्राप्तकर सकते हैं। योगसिद्धियोंकी उपलब्धिमें दिव्य-देश सहकारी कारण हैं। धारणकी सहायदासे दिव्यदेशमें तत्त्वका प्रकाशन स्वाभाविक है। इष्टदेवका दर्शन भी दिव्यदेशमें ही सम्भव है। मन्त्रयोगमें इसका हितकारी होना स्वयं सिद्ध है। दिव्यदेशोंका विस्तृत वर्णन और भेदकथन वेदों ओर तन्त्रशास्त्रोंमें मिलता है महान् मन्त्रविज्ञ मन्त्रवेत्ताओं द्वारा भी इनका कथन किया गया है।

मृण्मय मूर्त्तितोंमें आवाहनके उपरान्त ही पूजन प्रारम्भ करना चाहिये। परन्तु प्राणप्रतिष्ठितदेव विग्रह, संस्कृत जल अथवा अग्निमें आवाहन और विसर्जनकी कोई आवश्यकता नहीं होती। अर्थात् इनका आवाहन और विसर्जन नहीं करना चाहिये।

प्राणक्रियावर्णनम्

मनः प्राणा मरुच्चैतेऽभेदसम्बन्धयोगिनः।
कार्यकारणरूपत्वं वायोः प्राणस्य चेष्यते ॥२३२॥
अतः प्राणक्रियायोगयुक्ता न्यासाः प्रकीर्त्तिताः।
प्राणायामस्य भेदा वै वर्णिता हठयोगिभिः ॥२३३॥
मन्त्रयोगेऽपि सहितः प्राणायामो विधीयते।
मन्त्रयोगे तथा केचिदाचार्या सम्प्रचक्षते ॥२३४॥
प्राणायामो हि सहजः सर्वलोकहितप्रदः ॥२३५॥

मन, प्राण और वायु ये तीन अभेद सम्बन्ध वाले हैं। एक ही हैं। तीन रूप हैं। वायु और प्राणमें कार्यकारण सम्बन्ध है। इसी कारण प्राण–क्रिया–योग अर्थात् प्राणायाम क्रियाके साथ न्यास प्रक्रियायें भी आवश्यक मानी गयीं हैं।

हठ योगमें पारङ्गत योगीश्वरों द्वारा प्राणायामके अनेक भेदवर्णित किये गये हैं। मन्त्रयोगमें भी प्राणायामका विधान किया गया है क्योंकि यह परम लाभप्रद है। कई आचार्योंने यह प्रतिपादित किया है कि, सहज प्राणायाम अत्यन्त हितकर है।

> न्यासा यद्यपि बहवः परं तत्र प्रधानता ॥२३६॥
> सप्तानां ते तु विज्ञेया गुरुदेवोपदेशतः।
> साधारणोपासनायां करन्यासाङ्गन्यासकौ ॥२३७॥
> उपकारितया प्रोक्तौ विस्तरोपासनासु तु।
> ऋष्यादिमातृकान्यासो ह्यनुष्ठेयतया मतः ॥२३८॥
> दिग्दर्शनार्थं न्यासस्य प्राणायामस्य चैव हि।
> विन्यस्यतेऽवबोधाय तथोदाहरणं स्फुटम् ॥२३९॥

न्यास यद्यपि बहुत हैं किन्तु उनमेंसे सात ही प्रधान हैं। गुरुदेवके उपदेश से इनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। सामान्य उपासनामें कर-न्यास और अङ्गन्यास उपकारक माने जाते हैं। न्यासविधिमें ऋष्यादि-न्यास ओर मातृकान्यास अवश्य ही अनुष्ठेय हैं। प्राणायाम और न्यासके ज्ञानके लिये दिग्दर्शन रूपसे उदाहरणासहित आगे वर्णन किये जा रहे हैं।

प्राणायामवर्णनम्

> यदा प्राणं समारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम्।
> प्रणवेन सुसंयुक्तां व्याहृतिभिश्च संयुताम् ॥२४०॥
> गायत्रीं च जपेद्विप्रः प्राणसंयमने त्रयम्।
> पुनश्चैव त्रिभिःकुर्यात् पुनश्चैव त्रिसन्धिषु ॥२४१॥

प्राणको बाहरसे आकर्षकर उदरदेशमें ले जाकर उसको पूरक रूपमें देखते हुए प्रणव एवं व्याहृति युक्त गायत्रीमन्त्रका जप कमसे कम तीन बार करना चाहिये। कुम्भकमें भी तीन बार और रेचकमें भी तीन बार

जपनेसे एक प्राणायाम पूरा होता है। सन्धिका अर्थ सन्ध्या करने पर तीनों सन्ध्याओंमें भी प्राणायाम विधानका संकेत हैं।

बाह्यमातृकान्यासः

ललाटेऽनामिकामध्ये विन्यसेन्मुखपङ्कजे।
तर्जनीमध्यमानामा वृद्धानामे च नेत्रयोः ॥२४२॥
अङ्गुष्ठं कर्णयोर्न्यस्य कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ नसोः।
मध्यास्तिस्रो गण्डयोस्तु मध्यमां चोष्ठयो र्न्यसेत् ॥२४३॥
अनामां दन्तयो र्न्यस्य मध्यमामुत्तमाङ्गके।
मुखेऽनामां मध्यमाञ्च हस्तपादेषु पार्श्वयोः ॥२४४॥
कनिष्ठिकानामिकामध्यास्तास्तुपृष्ठे च विन्यसेत्।
ताः साङ्गुष्ठा नाभिदेशे सर्वाः कुक्षौ च विन्यसेत् ॥२४५॥

अनामिका और मध्यमा इन दोनों अङ्गुलियों द्वारा ललाटमें, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका इन तीनोंसे कमलवत् मुखमें, अङ्गुल, अनामिका द्वारा दोनों आँखोंमें, अंगूठे द्वारा दोनों कानोंमें, कनिष्ठा और अंगुष्ठ द्वारा दोनों नासिकाओंमें तर्जनी, मध्यमा और अनामिका द्वारा कपोलपालियोंमें, मध्यमा द्वारा दोनों ओठोंमें, अनामिकासे दोनों दाँतोंकी पंक्तियोंमें, मध्यमा द्वारा उत्तमाङ्ग (शिर) में, अनामिका और मध्यमा द्वारा मुखमें, कनिष्ठा, अनामिका और मध्यमा द्वारा हाथ, पैर दोनों पार्श्व (अगलबगल)में, इन्हीं तीन अंगुलियोंसे पृष्ठभागमें, अंगुष्ठ-सहित सारी अंगुलियोंसे नाभिदेशमें और आँखोंमें भी न्यास करना चाहिये।

हृदये च तलं सर्वमंसयोश्च ककुत्स्थले।
हृत्पूर्वं हस्तपत्कुक्षि-मुखेषु तलमेव च ॥२४६॥
एतास्तु मातृकामुद्रा क्रमेण परिकीर्त्तिताः।
अज्ञात्वा विन्यसेद्यस्तु न्यासस्यात् तस्य निष्फलः ॥२४७॥
ललाटे मुखनेत्रे च श्रुतिघ्राणे च गण्डयोः।
ओष्ठदन्तोत्तमाङ्गस्यदोः पत्ससन्ध्यग्रकेषु च ॥२४८॥
पार्श्वयोः पृष्ठतो नाभौ जठरे हृदयेंसके।
ककुद्यंसे च हृत्पूर्वं पाणिपादयुगे तथा ॥२४९॥

जठराननयोर्न्यस्येन्मातृकार्णान् यथा क्रमात् ।
ओमाद्यन्तो नमोऽन्तो वा सबिन्दुबिन्दुर्वजितः ।
पञ्चाशद्वर्णविन्यासः क्रमादुक्तो मनीषिभिः ॥२५०॥

करतल द्वारा अन्तःकरण (हृदय) में कन्धोंमें तथा मेरुदण्ड और ग्रीवाकी सन्धिदेश (ककुद्) में हृदयसे हस्त, हृदयसे पद, कुक्षि, और मुख पर्यन्त अङ्गोंमें करतलसे ही न्यास करना चाहिये । ये सारी मातृका मुद्रायें क्रमशः कही गयी हैं । इनको न जानकर जो साधक न्यास करता है—उसकी न्यास क्रिया निष्फल हो जाती है ।

ललाट, मुखमण्डल, दोनोंनेत्र, दोनोंकान, नाक, दोनोंकपोल दोनों होठ, दोनोंदन्तपङ्क्ति, मस्तक, मुख, हाथ और पैरकी सन्धियाँ, हाथ पैरके अग्रभाग, दोनों पार्श्व पीठ, नाभि, उदर, हृदय, दाहिनाकन्धा, ककुद्, बाँयाँस्कन्ध, हृदयसे मुख पर्यन्त इन सभी स्थानोंमें मातृकाके ५० वर्णो द्वारा क्रम पूर्वक न्यास फलप्रद होता है । चाहे वर्णोंके पहले और अन्तमें ॐ लगावें अथवा अन्तमें नमः लगावें । दोनोका विधान है । वर्णोंपर विन्दु लगाकर बोलकर न्यास करें या बिना बिन्दुका कोई अन्तर नहीं पड़ता । यह सारा न्यास विधान तन्त्रमनीषी गुरुजनों द्वारा निर्दिष्ट है ।

मातृकां शृणु देवेशि ! न्यसेत् पापनिकृन्तिनीम् ।
ऋषिर्ब्रह्माऽस्य मन्त्रस्य गायत्री छन्द उच्यते ॥२५१॥
देवता मातृका देवी बीजं व्यञ्जनमुच्यते ।
शक्तयस्तु स्वरा देवि ! षडङ्गं न्यासमाचरेत् ॥२५२॥

श्री भगवान् शङ्करने कहा—हेसमस्त देवोंकी स्वामिनी । तुम मातृका न्यासकी विधिको सुनों । यह सभी पापों नष्ट करने वाली है । इस मातृका न्यासके ऋषि ब्रह्मा हैं । गायत्री इसका छन्द है । स्वयं मातृका देवी ही देवता हैं । व्यञ्जनवर्ण ही बीज हैं और सभी स्वर शक्तियाँ हैं । छः अङ्गोंके न्यासका आचरण करना चाहिये ।

अं आं मध्येकवर्गं तु इं ईं मध्ये च वर्गकम् ।
उं ऊं मध्ये टवर्गं तु एं ऐं मध्ये तवर्गकम् ॥२५३॥
ओं औं मध्ये पवर्गं तु विन्दुयुक्तं न्यसेत् प्रिये ।
अनुस्वाराद्विसर्गान्तो यशवर्गौ सलक्षकौ ॥२५४॥

हृदयञ्च शिरो देवि शिखा कवचकं तथा।
नेत्रमन्त्रं न्यसेन् ङेन्तं नमः स्वाहा क्रमेण तु ॥२५६॥
वषड् हुं वौषडन्तं च फडन्तं योजयेत् प्रिये।
षडङ्गोऽयं मातृकायाः सर्वपापहरः स्मृतः ॥२५७॥

अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः, इं चं छं जं झं ञं ईं शिरसे स्वाहा, उं टं ठं डं ढं णं ऊं शिखायै वषड्, एं तं थं दं धं नं ऐं कवचाय हुं, ओं रं फं बं भं मं औं नेत्रत्रयाय वौषट्, अं यं रं वं लं शं षं सं हं लं क्षं अं अस्त्राय फट्, इन मन्त्रों द्वारों क्रमशः हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रयका स्पर्शकरना चाहिये। अन्तिम मन्त्र पढ़कर शिरके चारों ओर दाहिनेसे बायेंके क्रम अंगुलि घुमाकर बाईं हथेलीपर तीन बार बजाना चाहिये। यह षडङ्ग न्यास समस्त पापोंका नाश करता है।

आन्तरमातृकान्यासः

एकैक वर्णमुच्चार्य मूलाधारात् शिरोऽन्तकम्।
नमोऽन्त इति विन्यासः आन्तरः परिकीर्त्तितः ॥२५८॥
अथान्तर्मातृकान्यासो मूलाधारे चतुर्दले।
सुवर्णाभे व शयस चतुर्वर्ण-विभूषिते ॥२५९॥

आन्तर मातृका न्यास भीतरी चक्रोंमें वर्णोंके न्यासकी विधिको कहते हैं। मूलाधारसे आज्ञाचक्र पर्यन्त एक एक बिन्दुयुक्त वर्णोंका न्यास करना चाहिये जैसे मूलाधार चक्र चार दलों वाला चक्र है। इसमें पहले दलमें 'वं नमः' दूसरेमें शं नमः, तीसरेमें षं नमः और चौथेमें सं नमः बोलकर वं शं षं सं वर्णोंकी चारों दलोंमें स्थापना आन्तर न्यास है। (इसी तरह सभी चक्रोंमें कैसे वर्णन्यास किया जाय—यह विधि क्रमशः बताई जा रही है)

षड्दले वैद्युतनिभे स्वाधिष्ठानेऽनलत्विषि।
बभमयरलैर्युक्ते वर्णैः षड्भिश्च सुव्रते ॥२६०॥
मणिपूरे दशदले नीलजीमूत—सन्निभे।
डादिफान्तदलैर्युक्ते विन्दू३भासितमस्तकैः ॥२६१॥
अनाहते द्वादशारे प्रवाल—रुचि—सन्निभे।
कादिठान्त दलैर्युक्ते योगिनां हृदयङ्गमे ॥२६२॥

विशुद्धेषोडशदले धूम्राभे स्वरभूषिते ।
आज्ञा चक्रे तु चन्द्राभे द्विदले हक्ष लांछिते ॥२६३॥
सहस्रारे हिमनिभे सर्ववर्णविभूषिते ।
अकथादि त्रिरेखात्म हलक्षत्रय भूषिते ॥२६४॥
तन्मध्ये परविन्दुञ्च सृष्टिस्थिति - लयात्कम् ।
एवं समाहितमनाः ध्यायेन्यासोऽयमान्तरः ॥२६५॥

स्वाधिष्ठान चक्र कमल छः पत्तोंवाली है। यह बिजलीके समान चमकदार है। मानो आगकी लपटकी कान्तिसे समन्वित है। इनमें क्रमशः वं भं मं यं रं लं नमः बोलकर एक-एक पत्तों पर न्यास करे। छः दलों पर ये छः वर्ण रहते हैं।

मणिपूर चक्र दश दलोंवाला चक्र है। यह नीले रंगके बादलके समान आभावाला है। डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं इन दश वर्णोंका क्रमशः न्यास करना चाहिये। वर्णोंके मस्तकपर बिन्दुका चमकना जरूरी है।

अनाहत चक्र द्वादश (बारह) दलोंसे विभूषित है। यह प्रवाल (मूँगे) की कान्तिवाला है। इसमें क्रमशः कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं वर्णोंका न्यास होता है। योगी लोग इसे जानते हैं।

विशुद्ध चक्र १६ दलोंका और धुआँकी तरहका होता है। इसमें सभी स्वर (अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः) बिन्दु युक्त न्यास किये जाते हैं।

आज्ञा चक्र मात्र दो दलोंका चक्र है। यह चन्द्रमाकी कान्तिकी शोभासे समन्वित है। बाएँ दलमें हं और दायें दलमें क्षं का न्यास होता है। (इन छहों कमलोंकी कर्णिकामें छः बीजाक्षर वर्णोंका उनके देवता और उनकी शक्तिके साथ न्यास होता है। यह रहस्य यहाँ नहीं वर्णित है। इसे गुरु द्वारा जान लेना आवश्यक है)

सहस्रार चक्र सर्वोत्तम चक्र है। इसी कारण पुरुषको सहस्रशीर्षा कहते हैं। यह बर्फकी तरह श्वेत चक्र है। इसमें सभी वर्ण शोभित हैं। वर्णमालामें ५० वर्ण होते हैं। बाईं ओर ५० और दाहिनी ओर पचास इस तरह एक वृत्तमें १०० वर्ण और १० वृत्तोंमें सहस्रवर्ण विराजमान

हैं। इनके मध्यमें तीन रेखाओंमें अं कं थं हं, अं कं थं लं और अं कं थं क्ष ये वर्ण हैं। इन रेखाओंके बीचमें सृष्टि, स्थिति और संहारकी शक्ति वाले परविन्दु परम शिव भी शोभित हैं। यह आन्तर मातृका न्यासका ध्यान हैं।

ऋष्यादिन्यासः

महेश्वरमुखाज् ज्ञात्वा यः साक्षात् तपसा मनुम्।
संसाधयति शुद्धात्मा स तस्य ऋषिरीरितः ॥२६६॥
गुरुत्वान्मस्तके चाऽस्य न्यासस्तु परिकीर्त्तितः।
सर्वेषां मन्त्रतत्त्वानां छादनात् छन्द उच्यते ॥२६७॥
अक्षरत्वात् पदत्वाच्च मुखे छन्दः समीरितम्।
सर्वेषामेव जन्तूनां भाषणात् प्रेरणात् तथा ॥२६८॥
हृदयाम्भोजमध्यस्था देवता तत्र तां न्यसेत्।
ऋषिश्छन्दोऽपरिज्ञानान्न मन्त्रफलभाग् भवेत् ॥२६९॥
दौर्बल्यं याति मन्त्राणां विनियोगमजानताम्।
ऋषिं न्यसेन्मूर्ध्नि देशे छन्दस्तु मुखपङ्कजे ॥२७०॥
देवतां हृदये चैव बीजं तु गुह्यदेशके।
शक्तिं च पादयोश्चैव सर्वाङ्गे कीलकं न्यसेत् ॥२७१॥

महेश्वर शङ्करके मुखसे मन्त्र श्रवणकर तपस्याके द्वारा जो मन्त्रकी सिद्धिकरते हैं, वे ही शुद्ध आत्मावाले 'ऋषि' कहलाते हैं। श्रेष्ठ होनेके कारण ऋषिका न्यास मस्तकमें किया जाता है। सभी मन्त्रोंके तत्त्वोंकी छादन (ढक कर रखना) क्रिया द्वारा जो रक्षा करते हैं, वे छन्द कहलाते हैं। अक्षर और पदात्मक होनेके कारण छन्दका न्यास मुखमें करते हैं।

सभी प्राणियोंके बोलनेके प्रेरक एवं जीवनके प्रेरणादायक होनेके कारण हृदय रूपीकमलमें रहनेवाले देवताओंकी न्यास क्रिया हृदयमें ही की जाती है। ऋषि और छन्द जाने बिना मन्त्र जपका फल नहीं मिलता। इसी तरह विनियोग न जानने से मन्त्रशक्ति दुर्बल हो जाती है।

ऋषिका न्यास शिर पर, छन्दका मुखमें, देवताका हृदयमें, बीजका गुप्त अंगोंमें, शक्तिका दोनों पैरोंमें और कीलकका सभी अंगोंमें न्यास करना साधनाका आवश्यक अङ्ग है।

अथ मुद्रा वर्णनम्

मोदनात् सर्व देवानां द्रावणात् पापसन्ततेः।
तस्मान्मुद्रेति विख्याता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः ॥२७२॥
अथ मुद्राः प्रवक्ष्यामि सर्व—तन्त्रेषु कल्पिताः।
याभिर्विरचिताभिश्च मोदन्ते मन्त्र—देवताः॥

सभी देवताओंकी प्रसन्नताकी मूल हेतु होनेके कारण, साथही, पापोंको दूर भगा देनेके कारण इस क्रियाको मुद्रा कहते हैं। मन्त्रशास्त्रके विद्वान् इसे मुद्राही कहते हैं। अब अनेक तन्त्रोंमें स्वीकृत मुद्राओंका वर्णन किया जा रहा है, जिसके बनानेसे उन उन मन्त्रोंके देव वृन्द प्रसन्न होते हैं।

अर्चने जपकाले च ध्याने काम्ये च कर्मणि।
स्नाने चाऽऽवाहने शङ्खे प्रतिष्ठायाञ्च रक्षणे ॥२७४॥
नैवेद्ये च तथाऽन्यत्र तत्तत्कल्पप्रकाशिते।
स्थाने मुद्राः प्रद्रष्टव्याः स्वस्वलक्षणलक्षिताः ॥२७५॥
आवाहन्यादिका मुद्रा नव साधारणी मता।
तथा षडङ्ग - मुद्राश्च सर्वमन्त्रेषु योजयेत् ॥२७६॥

पूजा, जप, ध्यान, काम्यकर्म, स्नान, आवाहन, शङ्ख प्रतिष्ठा रक्षण, नैवेद्य एवं शास्त्रों द्वारा बताये और कल्पोंमें लिखे स्थानोंपर मुद्राओंका प्रयोग परमावश्यक है। इन मुद्राओंमें उन उन कार्योंके लक्षण साफ साफ लक्षित होते हैं। साधारणतया आवाहनी आदि नव (९) मुद्रायें होती हैं। सभी मन्त्रोंमें षडङ्ग मुद्राओंका योजना भी आवश्यक है।

एकोनविंशतिमुद्रा विष्णोरुक्ता मनीषिभिः।
शंख—चक्र—गदा—पद्म—वेणु—श्रीवत्स-कौस्तुभाः ॥२७७॥
वनमाला तथा ज्ञानमुद्रा बिल्वाऽऽह्वया तथा।
गरुडाख्या परा मुद्रा विष्णोः सन्तोष—वर्धिनी ॥२७८॥
नारसिंही च वाराही, हायग्रीवी धनुस्तथा।
बाणमुद्रा च परशुर्मोहिनी—कामनामिकाः ॥२७९॥

बिष्णु सम्बन्धिनी १९ मुद्रायें मनीषियों द्वारा कही गयीं हैं। शङ्ख, चक्र, गदा, कमल, वेणु, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, ज्ञान, विल्व गरुड, नारसिंही, वाराही, हयग्रीवो, धनु, वाण परशु, मोहिनी और काय ये १९ मुद्रायें विष्णुको आनन्द देनेवाली हैं।

एवमेव परा ख्याता शिवस्य दश मुद्रिकाः।
लिङ्गयोनित्रिशूलाख्या मालेष्टाभीमृगाऽऽह्वयाः ॥२८०॥
खट्वाङ्गा च कपालाख्या डमरुः शिवतोषदाः।
सूर्यस्यैकैव पद्माख्या सप्तमुद्राः गणेशितुः ॥२८१॥
दन्त—पाशाङ्कुशा-विघ्न—परशु—लज्जुकास्तथ।
बीजपूराह्वया मुद्रा ज्ञेया विघ्नेश—पूजने ॥२८२॥

भगवान शंकरके पूजनके लिये १० मुद्रायें अत्यन्त विख्यात हैं। वे हैं—लिङ्ग, योनि, त्रिशूल, माला, बर, अभय मृग, खट्वाङ्ग कपाल और डमरु। ये शंकरको प्रसन्न करनेवाली हैं। सूर्यकी एक ही मुद्रा है। उसका नाम है पद्म मुद्रा। भगवान् गणेशकी सात मुद्रायें प्रसिद्ध हैं। उनके नाम हैं—दन्त, पाश, अङ्कुश, विघ्न, परशु, लज्जुक और बीजपूर। ये सभी गणेशकी प्रसन्नताकी आधार भूत मुद्रायें हैं।

पाशाङ्कुशवराभीति—खड्ग-चर्म—धनुः शराः।
मौसली मुद्रिका दौर्गी शक्तेः प्रियङ्कराः ॥२८३॥
लक्ष्मीमुद्रार्चने लक्ष्म्या वाग्वादिन्याश्च पूजने।
अक्षमाला तथा वीणा व्याख्या—पुस्तकमुद्रिकाः ॥२८४॥
सप्तजिह्वाऽऽह्वया मुद्रा विज्ञेयावह्नि पूजने।
मत्स्यमुद्रा च कूर्माख्या लेलिहा मुंडसंज्ञिका ॥२८५॥
महायोनिरिति ख्याता सर्वसिद्धिसमृद्धिदा।
शक्त्यर्चने महायोनिः श्यामादौ मुंडमुद्रिका ॥२८६॥

पाश, अङ्कुश—वर—अभय, खड्ग चर्म धणुषवाण और मुसल ये नव मुद्रायें भगवती दुर्गाको प्रसन्न करनेवाली हैं।

लक्ष्मीकी पूजामें मात्र लक्ष्मी मुद्रा ही विहित हैं। वाग्वादिनी भगवतीकी पूजामें अक्षमाला, वीणा, व्याख्या और पुस्तक मुद्रायें विहित हैं।

अग्निकी पूजामें सप्तजिह्वा नामक मुद्रा जाननी चाहिये। मत्स्य, कूर्म, लेलिहा, मुंड और महायोनि ये मुद्रायें सभी प्रकारकी शक्ति और सिद्धि प्रदान करनेवाली हैं। शक्तिकी पूजामें महायोनि मुद्रा और श्यामा आदिकी पूजामें मुंडमुद्रा विहित है।

मत्स्य—कूर्म—लेलिहाख्या मुद्रा साधारणी मता।
ताराचंने विशेषास्तु कथ्यन्ते पञ्चमुद्रिकाः ॥२८७॥
योनिश्च भूतिनी चैव बीजाख्या दैत्यधूमिनी।
लेलिहानेति सम्प्रोक्तां पञ्चमुद्राः प्रकाशिताः ॥२८८॥
दशका मुद्रिकाः ज्ञेयास्त्रिपुरायाः प्रपूजने।
संक्षोभ—द्रावणाकर्ष—वश्योन्माद—महाङ्कुशाः ॥२८९॥
खेचरी बीजयोन्याख्याः त्रिखण्डाः परिकीर्त्तिताः।
कुम्भमुद्राभिषेके स्यात् पद्ममुद्रासने तथा ॥२९०॥

मत्य-कूर्म-लेलिहाना ये तीन मुद्रायें भी सामान्य मुद्रायें हैं। तारा के पूजन में ५ मुद्रायें गृहीत हैं वे हैं—योनि, भूतिनी, बीज, दैत्यधूमिनी और लेलिहाना।

भगवती त्रिपुर सुन्दरी-त्रिपुरा के पूजन में क्षोभिणी, द्राविणी, आकर्षिणी, वश्या, उन्मादिनी, महाङ्कुशा, खेचरी, बीज, योनि और त्रिखण्डा ये दश मुद्रायें विहित हैं। अभिषेक में कुम्भ मुद्रायें विहित हैं। अभिषेक में कुम्भ मुद्रा और आसन में पद्म मुद्रायें विहित हैं।

कालकर्णी प्रयोक्तव्या विघ्नप्रशमकर्मणि।
गालिनी च प्रयोक्तव्या जलशोधनकर्मणि ॥२९१॥
श्री गोपालार्चने वेणु र्नृहरे र्नारसिंहिका।
वाराहस्य च पूजायां वाराहाख्यां प्रयोजयेत् ॥२९२॥
हयग्रीवार्चने चैव हायग्रीवीं प्रदर्शयेत्।
रामार्चने धनुर्बाणमुद्रे परशुस्तु तथार्चने ॥२९३॥
परशुरामस्य विज्ञेया जगन्मोहनसंज्ञिका।
वासुदेववाह्वयाऽऽह्वाने कुम्भमुद्रातु रक्षणे ॥२९४॥
सर्वत्र प्रार्थने चैव प्रार्थनायां प्रयोजयेत्।
यथाधिकारं शिक्षेयुः साम्प्रदायिकसाधकाः ॥२९५॥

विघ्नों को दूर करनेमें कालकर्णी मुद्रा विहित है। जलके शोधनके काममें गालिनी मुद्राका प्रयोग करे। गोपाल कृष्णकी पूजामें वेणु, नृसिंहकी पूजामें नारसिंहिका, वराहके लिये वाराही, हयग्रीवके लिये हायग्रीवी, रामकी पूजामें धनुष और बाणमुद्रायें, परशुरामकी पूजामें परशु और जगन्मोहिनी मुद्रायें प्रशस्त हैं।

आवाहनमें वासुदेव मुद्रा, रक्षाकार्यमें कुम्भ मुद्रा और सर्वत्र प्रार्थनाके समय प्रार्थना मुद्रा प्रदर्शित करनी चाहिये। यह अपने-अपने सम्प्रदाय पर निर्भर करता है कि सम्प्रदायानुसार दीक्षित साधक अधिकारके अनुसार इन मुद्राओंको सीख लें।

गुरोर्मुद्रालक्षणानि तान्त्रिकैर्वर्णितानि वै।
देव-देवी प्रसादाय बह्वयः मुद्राः प्रदर्शिताः ॥२९६॥

याः वर्णिताः पद्धतिषु तासु तासु मनीषिभिः।
मुद्राश्च कथिताः पञ्चोपासनस्याऽनुसारत ॥२९७॥

यथा देव-प्रसादाय मुद्रा-भेदा निरूपिताः।
तर्थाषिप्रीणनार्थाय मुद्रा काश्चिन्निगद्यते ॥२९८॥

ज्ञानमुद्रा भक्तिमुद्रा कर्ममुद्रा तथैव च।
तपोमुद्रा दानमुद्रा ऋषीणां तुष्टिकारिकाः ॥२९९॥

मुद्रा वराऽभयप्रदाः प्रीणयन्ति जगत्त्रयम्।
देवर्षींश्च पितृंश्चापि कस्य स्यादत्र संशयः ॥३००॥

तान्त्रिकों द्वारा वर्णित गुरुप्रोक्त मुद्रायें देव और देवीशक्तियोंको प्रसन्नताके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। इनको गुरुदेवसे सीख लेना चाहिये। मुद्रायें अनेक-अनेक पद्धतियोंमें पञ्चोपासनाके सिद्धान्तके अनुसार वर्णित हैं। ये सभी मुद्रायें देवोंकी प्रसन्नताके लिये निरूपितकी गयीं है। इसीप्रकार इस ग्रन्थके प्रणेता ऋषि स्वामी ज्ञानानन्दजी प्रभुकी प्रसन्नताके लिये कुछ और मुद्रायें भी यहाँ कहीं जा रही हैं। वे हैं—ज्ञानमुद्रा, भक्तिमुद्रा, कर्ममुद्रा, तपोमुद्रा, दानमुद्रा। ये सभी ऋषियोंको सन्तुष्ट करती हैं। वर एवम् अभयमुद्रायें तथा पितरीको भी तृप्त करनेवाली इन मुद्राओंके सम्बन्धमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

तर्पण वर्णनम्

तर्पणात् देवताप्रीतिः त्वरितं जायते यतः ।
अतस्तत्तर्पणं प्रोक्तं तर्पणत्वेन योगिभिः ।।३०१।।
सकाम--निष्कामतया द्विभेदं तर्पणं मतम् ।
सकाम-तर्पणद्रव्यं भिन्नं निदिश्यते बुधैः ।।३०२।।
तर्पणं मन्त्रयोगस्य मुख्यमङ्गं निरूपितम् ।
इष्टान् संतर्प्य प्रथमं देवर्षि पितरस्तथा ।।३०३।।
सन्तर्प्याश्चे ष गदितस्तर्पणस्य विधिः शुभः ।
माहात्म्यं चास्य भवति विधिना तर्पितेन यत् ।।३०४।।
न पितृदेवभूतानां यज्ञानुष्ठानमिष्यते ।
अनिशं तर्पणं कार्यमात्म–श्रेयोऽभिलाषुकैः ।।३०५।।

तर्पणसे तत्काल देवता प्रसन्न होते हैं। अतः तृप्त करनेके कारण-योगी इसे तपंण कहते हैं। तर्पणके दो भेद हैं। १—सकाम तर्पण और २—निष्काम तर्पण। जानकार लोग सकाम तर्पणके लिये विभिन्न-विभिन्न द्रव्योंका निर्देश करते हैं।

मन्त्रयोगका मुख्य अङ्ग तर्पण निश्चित रूपसे निरूपित किया गया है। प्रथमतः इष्टका तर्पणकर तब देवर्षियों और पितरोंका तर्पण किया जाता है। यहीं तर्पणकी शुभ विधि है। तर्पणकी यह सबसे बड़ी विशेषता है कि विधिपूर्वक तर्पण कर लेने पर पितृ यज्ञ, देवयज्ञ और भूतयज्ञका अनुष्ठान आवश्यक नहीं होता। इसलिये कल्याणकी कामना करनेवाले लोगोंका यह कर्त्तव्य है कि वे निरन्तर तर्पणकी विधि अपनावें।

तूर्णं हि स्वेष्टदेवस्य वाञ्च्छद्भिश्च प्रसादनाम् ।
मधुना तर्पणं कुर्यात् सर्वकामप्रपूरकम् ।।३०६।।
मन्त्रसिद्धिकरं साक्षात् महापातकनाशनम् ।
कर्पूरमिश्रितैस्तोयैः मासमात्रन्तु तर्पयेत् ।।३०७।।
वशीकृत्य नृपान् सर्वान् भोगी स्याज्जीवनावधि ।
घृतैः पूर्णायुषः सिद्ध्यै दुग्धैरारोग्यसिद्धये ।।३०८।।

अपने इष्टदेवकी तुरत प्रसन्नताके लिये मधुसे तर्पण करना चाहिये। मधुका तर्पण सभी कामनाओंको पूरा करता है, मन्त्रोंकी सिद्धि करता है और बड़ेसे बड़े पापका विनाश करता है। कपूर मिले हुए जलसे

१ एक मास तक तर्पण किया जाये, तो देवताकी प्रसन्नतासे राजा भी वशीभूत हो जाते हैं। साथ ही जीवन पर्यन्त भोग उपभोगकी सामग्रियाँ भी भरी रहेंगी। घीसे तर्पण करने पर पूर्ण आयुकी प्राप्ति और दूधसे तर्पण करनेपर साधक सदा नीरोग रहता है।

अगुरुमिश्रितैस्तोयैः सर्वकालं सुखी भवेत्।
नारिकेलोदकैर्मिश्रैस्तोयैः सर्वार्थसिद्धये ॥३०९॥
मरीचिमिश्रितैस्तोयैः शत्रून् विनाशयेत्।
केवलैरुष्णतोयैश्च शत्रुमुच्चाटयेत् क्षणात् ॥३१०॥
ज्वराक्रान्तो भवेच्छत्रुर्दुग्धसेकात् समन्ततः।
शताभिजप्तमात्रेण रोचनातिलकं नरः।
कृत्वा वश्यति यं मन्त्री तं कुर्याद्दासवत् सुधीः ॥३११॥

जलमें अगुरु मिलाकर तर्पण करनेसे सभीकाल अर्थात् सर्वदा सुखी रहता है। अपनी सारी मनोकामना की पूर्त्ति और सिद्धिके लिये नारियलके भीतरके रसको पानीमें मिलाकर तर्पण करना चाहिये। मरिचि (कालीमिर्च) के साथ जल मिलाकर तर्पण करनेसे शत्रु नष्ट होते हैं। केवल गर्म जल से तर्पण करने पर क्षणमें ही शत्रुका उच्चाटन होता है। थोड़े गर्म दूधसे तर्पण करने पर शत्रु ज्वरसे आक्रान्त हो जाता है। गोरोचनसे तिलक लगाकर एक माला मात्र गुरुमन्त्र या इष्टमन्त्रका जपके उपरान्त साधक जिसको देख लेता है, वही उसको प्रति सेवककी तरह आचरण करने लगता है।

अथ हवन वर्णनम्

नो सिध्यत्यजपान्मन्त्रो नाहुतश्च फलप्रदः।
नानिष्टो ददते कामान् तस्मात् त्रितयमर्जयेत् ॥३१२॥
पूजया लभते पूजां जपात् सिद्धिर्न संशयः।
विभूतिश्चाग्निकार्येण सर्वं सिद्धिश्च विन्दति ॥३१३॥
सपर्यां सम्यगापाद्य बलिपूर्वं चरेद्विधिम्।
नित्य होमं प्रवक्ष्यामि सर्वार्थं येन विन्दति ॥३१४॥
ततो होमं तर्पणं च चरेत् साधकसत्तमः।
बलिवैश्वदेवादिकं चैव ब्राह्मणः समुपाचरेत् ॥३१५॥

बिना जप किये हुए मन्त्र सिद्ध नहीं होते। बिना हवनके मन्त्रका फल नहीं मिलता। इष्टदेवकी पूजाके बिना कामनाकी पूर्त्ति नहीं होती। इसीलिये जप, हवन और इष्टदेवका पूजन परम आवश्यक है। इन्हें करना ही चाहिये। पूजा करनेसे पूजाकी प्राप्ति, जपसे सिद्धि और अग्निकार्य अर्थात् हवन द्वारा विभूति और ऐश्वर्यकी सर्वथा सिद्धि होती है।

पूजा अच्छी तरह पूरी कर 'बलि' देनी चाहिये। फिर नित्य हवन करना चाहिये। इससे सभी लक्ष्य सिद्ध होते हैं। हवनके उपरान्त तर्पण करना चाहिये। साधक ब्राह्मण बलिवैश्वदेवकी विधि भी अवश्य करे। यह आचार कर्म है।

अर्घ्योदकेन सम्प्रोक्ष्य तिस्रोरेखाः समालिखेत्।
विधिवदग्निमानीय क्रव्यादेभ्यो नमस् तथा ॥३१६॥
मूलमन्त्रं समुच्चार्य कुण्डे वा स्थण्डिलेऽपि वा।
भूमौ वा संस्तरेद्वह्निं व्याहृति - त्रितयेन च ॥३१७॥
स्वाहान्तेन त्रिधा हुत्वा षडङ्गहवनं चरेत्।
ततो देवीं[1] समावाह्य मूलेन षोडशाहुतीः ॥३१८॥
हुत्वा स्तुत्वा नमस्कृत्य विसृजेदिन्दुमण्डले।
न विना पञ्चयज्ञेन सिद्धिमाप्नोति साधकः ॥३१९॥

१—शक्त्युपासनायाः लक्ष्यन्निधाय देवी शब्दस्य प्रयोगोनुष्ठितः। अतोऽत्राऽयमेवोचितो विचारः यत् वैष्णव, सौर्य, गाणपत्याद्युपासक सम्प्रदायसाधकाः अनेनैव क्रमानुसारेण स्वस्व सम्प्रदायानुकूलं स्वस्वेष्टदेवतावाहनादिकं कुर्युः। कथं यत् मन्त्रयोगः पञ्चोपासनाप्रधानोऽस्ति। अथैवं विध एव लक्ष्यः सकलेषु ग्रन्थेषु बोध्यः।

१—देवी शब्दका प्रयोग यहाँ प्रतीकात्मक है। मन्त्रयोगसंहिता पञ्चोपासनाके सिद्धान्तका प्रतिपादन करती है। अतएव वैष्णव विष्णुका, शैव शिवका, गणेशयाजक गणपतिका और सौर भगवान् सूर्यका आवाहन करें। शक्ति उपासनाकी प्रधानताके कारण ही यहाँ 'देवी' शब्दका व्यवहार किया गया है। पूरे ग्रन्थ में यही भाव मुख्यतः लेना चाहिये।

अर्घ्यके जलसे छिड़ककर भूमि पर तीन रेखायें बनानी चाहिये। अग्निको विधिपूर्वक लाकर पहले क्रव्यादेभ्यः नमः कहकर और मूल मन्त्रका उच्चारणकर कुण्डमें, स्थण्डिल (वेदी) पर अथवा भूमि पर तीन व्याहृतियोंको बोलते हुए अग्निकी स्थापना करनी चाहिये। 'स्वाहा' के साथ तीन बार मन्त्र बोलकर छह अङ्गोंवाला हवन करें। फिर देवीका आवाहन मूल मन्त्रसे १६ आहुतियाँ देनी चाहिये। इसके बाद स्तुति और प्रार्थना करनी चाहिये। नमस्कार करनेके बाद चन्द्र मण्डलमें उनका विसर्जन करना चाहिये। बिना पञ्चयज्ञके साधक सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता।

त्रिविधा सिद्धयः पञ्चमहायज्ञेन शाश्वतन्।
पञ्चाङ्गसेवनेनैव ब्रह्मयज्ञ—फलागमः ॥३२०॥
स्वेष्टदेव—प्रसादः स्यान्नित्यं होमानुशीलनाम्।
देवाः देव्यश्च तृप्यन्ति होमेनानेन निश्चितम् ॥३२१॥
योगाङ्ग युक्तास्ते यज्ञाः यतः शुद्धि-विधायकाः।
अनुष्ठेयः स यत्नेन मोक्ष - प्राप्त्यभिलाषुकैः ॥३२२॥
साम्प्रदायिकमाङ्गल्यो नित्यहोमो विधीयते।
इष्ट देवप्रीणनाय हुत्वा पूर्वं यथा विधि ॥३२३॥
ततश्चान्यान् प्रीणयितुं हवनं परिकीर्त्तितम् ॥३२४॥

पञ्चमहायज्ञसे तीनों प्रकारकी (अधिभूत-अधिदेव-अध्यात्म) सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। पञ्चाङ्गसेवनसे ब्रह्म यज्ञका फल मिलता है। नित्य हवन विधि द्वारा अपने इष्टदेव प्रसन्न होते हैं। अन्य देव शक्तियाँ भी प्रसन्न होती हैं। यज्ञ योगके अङ्गोंसे युक्त होकर सर्वप्रकारसे शुद्धि प्रद होते हैं। मोक्षकी इच्छा रखने वालेके लिये यह क्रिया अवश्य करनी चाहिये। शाक्त, शैव, वैष्णव, गणेशी और सौर सम्प्रदायोंके कल्याण कार्यमें नित्य होमका विधान किया गया है। इष्टदेवकी प्रसन्नताके लिये पहले विधिपूर्वक हवन कर तत्पश्चात् अन्य देवों और देवियोंको प्रसन्न करनेके लिये हवन करना चाहिये।

अथ बलिवर्णनम्

बलिदानात् विघ्नशान्तिः स्वेष्टदेवस्यपूजने।
बलिदानेषु सर्वेभ्यः श्रेष्ठ आत्मबलिः स्मृतः ॥३२५॥

एतेन नष्टाहङ्कारः कृतार्थो मानवो भवेत् ।
कामक्रोधादिशत्रूणां बलिरत्र द्वितीयकः ॥३२६॥
अन्तर्यागेन सम्बद्धाः सर्वे चैते प्रकीर्त्तिताः ।
देवान् सम्पूज्य यत्नेन तद्द्रव्यैर्हि बलिक्रिया ॥३२७॥
इष्टदेवाः प्रसीदन्ति विधिनाऽनेन निश्चितम् ॥३२८॥

बलिदानसे विघ्नकी शान्ति होती है। अपने इष्टदेवके पूजनके अवसरपर बलि अवश्य करनी चाहिये। बलिदानोंमें सर्वश्रेष्ठ आत्मबलि है। इस क्रियासे अहङ्कार नष्ट हो जाता है और मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।

दूसरी बलि काम क्रोध, लोभ-मोह आदि शत्रुओंकी है। यह बलि अन्तर्यागसे सम्बन्धित है। देवपूजाके अनन्तर उन्हीं द्रव्यों द्वारा बलिक्रिया भी करनी चाहिये। इससे इष्टदेव प्रसन्न होते हैं।

सम्प्रदाये क्वचिद् देवप्रीणनाय विलोक्यते ।
फलोपहारस्य विधिर्वर्णितो मुनिपुंगवैः ॥३२९॥
क्वचिद् यज्ञपशोरेव बलिदानविधिः स्मृतः ।
बलिभेदा हि निर्दिष्टा स्त्रिगुणस्यानुसारतः ॥३३०॥
इष्टदेव—प्रसादाय बलिं दत्त्वा यथाविधि ।
भूतानां तृप्तये पश्चाद् बलिदान - विधिः स्मृतः ॥३३१॥
पूजाशिष्टैः फलैः पुष्पैस्तथा द्रव्यैः सुगन्धिभिः ।
बलिं निजेष्टदेवायावश्यं भक्तः समर्पयेत् ॥३३२॥

सम्प्रदाय भेदके अनुसार यह देखा जाता है और श्रेष्ठ मुनियोंने यह वर्णन भी किया है कि अपने इष्टदेवकी प्रसन्नताके लिये फलकी भी बलि अर्पितकी जाती है। किसी सम्प्रदायमें यज्ञ पशुके बलिदानका निर्देश है। त्रिगुण भेदके अनुसार ही यज्ञका भेद किया गया है।

सर्वप्रथम अपने इष्टदेवकी प्रसन्नताके लिये विधिपूर्वक बलि देनेका विधान है। बादमें संसारके समस्त प्राणियोंके लिये बलि कर्म पूर्ण करे। भक्त साधक का यह कर्त्तव्य है कि पूजामें अवशिष्ट फलोंसे, फूलोंसे और सुगन्धित द्रव्योंसे अपने इष्टदेवके लिये अवश्य ही बलि समर्पित करे।

बलिप्रदानतो स्वेष्टदेवो नूनं प्रसीदति ।
विघ्नाः सर्वे प्रणश्यन्ति बलिदानप्रभावतः ॥३३३॥

प्रथमं स्वेष्टदेवाय बलिं दद्यात् यथाविधि।
भक्त्या ततोऽन्यदेवेभ्यः पितॄणां तृप्तये ततः ॥३३४॥
ब्रह्मणे गृहमध्ये तु विश्वेदेवेभ्य एव च।
धन्वन्तरिं समुद्दिश्य प्रागुदीच्यां बलिं क्षिपेत् ॥३३५॥
प्राच्यां शक्राय याम्यायां यमस्य बलिमाहरेत्।
प्रतीच्यां वरुणायैव सोमायोत्तरतो बलिम् ॥३३६॥

बलिसे इष्टदेव प्रसन्न होते हैं। इसके प्रभावसे सारे विघ्न नष्ट हो जाते हैं। पहले यथाविधि इष्टदेवके लिये ही बलि दे। उसके बाद भक्तिपूर्वक दूसरे देवोंके लिये और पितरोंकी तृप्तिके लिये बलि दे। ब्रह्माको घरके बीचमें इसीप्रकार विश्वे देवोंको भी घरमें ही बलि देनी चाहिये।

धन्वन्तरिको लक्ष्यकर उत्तर ओर, इन्द्रके लिये पूर्वमें यमके लिये दक्षिणमें और पश्चिममें वरुणदेवके लिये बलि अर्पित करनी चाहिये। पुनः सोमबलि भी उत्तरमें ही देनी चाहिये।

दद्याद् धात्रे विधात्रे च बलिं द्वारे गृहस्य च।
अर्यम्णे च बलिं दद्यात् ग्रहेभ्यश्च समन्ततः ॥३३७॥
नक्तंचरेभ्यो भूतेभ्यो बलिमाकाशतो हरेत्।
पितॄणां निर्वपेच्चैव दक्षिणाभिमुखः स्थितः ॥३३८॥
गृहस्थस्तत्परो भूत्वा सुसमाहित—मानसः।
ततस्तोयमुपादाय तिष्ठेदाचमनाय वै ॥३३९॥
स्थानेषु निक्षिपेत् प्राज्ञस्तास्ता उद्दिश्य देवताः।
एवं ग्रहबलिं कृत्वा गृहे गृहपतिः शुचिः।
आप्यायनाय भूतानां कुर्यादुत्सर्गमादरात् ॥३४०॥
श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्च वपेद् भुवि।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायं प्रातरुदाहृतम् ॥३४१॥

धाता और विधाताकी बलि द्वारमें होनी चाहिये। अर्यमा और ग्रहोंकी बलि घरमें चारों ओर। रात्रिचर (निशाचर) प्राणियोंके लिये आकाशमें और पितरोंको दक्षिणमुख होकर बलि देनी चाहिये।

गृहस्थ एकाग्र होकर आसन पर तत्पर भावसे बैठकर आचमन करे। वहींसे सभी देवताओंको उद्देश्यकर जल छिड़के। इसप्रकार ग्रहबलि करके घरका स्वामी पवित्र भावसे भूतोंको भी बलि अर्पित करे। यह विधि 'बलि वैश्वदेव' कहलाती है। इसे सुबह शाम अवश्य करना चाहिये।

अथ यागवर्णनम्

अन्तर्यागो बहिर्यागश्चेति यागो द्विधा मतः ।
अत्रोपचारास्त्रिविधाः दश षोडश पञ्च च ॥ ३४२ ॥
अत्राध्यात्मं गृहीत्वैव लक्ष्यं स्याच्छ्रेयसा युतः ।
अन्तर्यागस्य महिमा सर्वश्रेष्ठः प्रकीर्त्तितः ॥ ३४३ ॥
नापेक्षिता देशशुद्धिर्नापि कालशरीरयोः ।
यागे जपे मानसे च तथा कर्मणि निश्चितम् ॥ ३४४ ॥
सर्वदा शक्यते कर्त्तुं मानसी निखिला क्रिया ।
दिव्यदेशेषु कस्यापि देशस्याश्रयतो भवेत् ॥ ३४५ ॥
यागस्य साधनं स्थूलात् सूक्ष्मे कोटिगुणं फलम्॥३४६॥

अन्तर्याग और बहिर्याग भेदसे याग दो प्रकारके होते हैं। इसके तीन, दश, सोलह और पाँच उपचार भी प्रसिद्धि हैं। अध्यात्मका ग्रहण करनेसे ही श्रेयके लक्ष्यकी पूर्ति होती है। अन्तर्यागकी महिमा, सबसे अधिक और बड़ी बतलाई गयी है। अन्तर्यागमें शरीर-शुद्धि, देश और कालकी शुद्धि अपेक्षित नहीं है।

यागमें, जपमें, मानसिक क्रियामें सभी कामों में निश्चित ही हमेशा यह क्रियाकी जा सकती है। दिव्य देशमें तो ठीक हो है—मानसिक क्रिया किसी देशमें किसी भी स्थानमें की जा सकती है। स्थूल यागकी साधनासे सूक्ष्मयोग साधन करोड़ गुना लाभदायक होता है।

योगसिद्ध्या जपः सिद्धः ध्यानसिद्धिस्ततः परम् ।
ततः समाधिसिद्धिः स्यादेतया देवदर्शनम् ॥ ३४७ ॥
आविर्भवन्तीष्टदेवा दिव्यदेशेषु नित्यशः ।
एषु स्थानेषु कल्याणि ! यजन्ति परमां शिवाम् ॥
अरूपां रूपिणीं कृत्वा कर्मकाण्डरता नराः ॥ ३४८ ॥

योगसिद्धि होने पर जप सिद्ध होता है। जप सिद्धिसे ध्यानसिद्धि होती है। ध्यानसिद्धिसे समाधिसिद्धि होती है। समाधिसिद्धिसे—देव दर्शन होते हैं। ये स्थान अत्यन्त पवित्र माने जाते हैं। इनमें परम शिवकी शक्तिरूपा परमाम्बाका याग किया जाता है। इस प्रकारके कर्मकाण्डमें लगे रहने वाले लोग निराकार भगवतीको भी स्थूल मानकर मूर्त्तिके रूपमें स्थापित कर पूजा करते हैं।

गवां सर्वाङ्गणं क्षीरं स्रवेत्स्तनमुखाद्यथा ।
तथा सर्वात्मको देवः प्रतिभादिषु राजते ॥ ३४९ ॥
आभिरूप्याच्च बिम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः ।
साधकस्य च विश्वासाद्देवता सन्निधिर्भवेत् ॥ ३५० ॥

गायका दूध उसके सारे शरीरमें होता है किन्तु उसके स्तनोंसे ही वह स्रवित होता है। उसी प्रकार देव सर्वात्मक होते हैं किन्तु प्रतिभामें उनका साक्षात्कार होता है।

बिम्बकी अभिरूपता, पूजाको विशेषता और साधकके विश्वाससे देवताका सान्निध्य प्राप्त होता है।

अथ पूजोपचारवर्णनम्

उत्तमो मानसो यागो मध्यमं बहिरर्चनम् ।
मूलमन्त्रं समुच्चार्य पश्चाद्देयमुदीरयेत् ॥ ३५१ ॥
सम्प्रदानं तदन्ते तु त्यागार्थक पदं ततः ।
एवं क्रमेण सद्वृत्ते ! उपचारान् प्रकल्पयेत् ॥ ३५२ ॥
उपचारा विनिर्दिष्टाः पूजायामेकविंशतिः ।
मुनिभिर्योगतत्त्वज्ञैर्दश षोडश पञ्च च ॥ ३५३ ॥

मानस याग सर्वोत्तम उपचार है। बाह्य पूजा मध्यम उपचार है मूलमन्त्रका उच्चारण करनेके पश्चात् देयवस्तुका कथन, फिर सम्प्रदान और इसके बाद पदार्थका त्याग करना चाहिये। योगशास्त्रके रहस्यदर्शी योगी पुरुष ही कहते हैं कि पूजाके ५, १०, १६ और २१ प्रकारके उपचार होते हैं।

एकविंशत्युपचाराः

आवाहनं स्वागतं च ह्यासनं स्थापनं तथा ।
पाद्यमर्घ्यं तथा स्नानं वसनं चोपवीतकम् ॥ ३५४ ॥
भूषणं गन्धपुष्पे वै धूपदीपौ तथैव च ।
नैवेद्याचमनं चैव ताम्बूलं तदनन्तरम् ॥
माल्यं नीराजनं चैव नमस्कारविसर्जने ॥ ३५५ ॥

१—आवाहन, २—स्वागत, ३—आसन, ४—प्रतिष्ठापन, ५—पाद्य ६—अर्घ्य, ७—स्नान, ८—वस्त्र ९—जनेऊ १०—भूषग ११—गन्ध, १२—पुष्प, १३—धूप, १४—दीप, १५—नैवेद्य, १६—आचमन, १७—ताम्बूल, १८—माल्य, १९—आरती, २०—नमस्कार और २१—विसर्जन ।

षोडशोपचाराः—

आवाहनं स्थापनं च पाद्यमर्घ्यं तथैव च ।
स्नानं वस्त्रं भूषणं वै गन्धपुष्पे च धूपकाः ।। ३५६ ।।
दीपस्तथा च नैवेद्यं तथैवाचमनं भवेत् ।
नीराजनं च ताम्बूलं प्रणाम इति षोडश ।। ३५७ ।।

१—आवाहन, २—स्थापन, ३—पाद्य, ४—अर्घ्य, ५—स्नान, ६—वस्त्र, ७—भूपण, ८—गन्ध, ९—फूल, १०—धूप, ११—दीप १२—नैवेद्य, १३—आचमन, १४—नीराजन, १५—ताम्बूल, १६—प्रणाम ये सोलह उपचार कहे जाते हैं ।

दशोपचाराः—

पाद्यमर्घ्यं तथा स्नानं मधुपर्काचमौ तथा ।
नैवेद्यान्ता गन्धमुखाः उपचारा दश क्रमात् ॥३५८॥

१—पाद्य, २—अर्घ्य, ३—स्नान, ४—मधुपर्क, ५—आचमन, ६—नैवेद्य, ७—गन्ध, ८—पुष्प, ९—धूप, १०—दीप ।

पञ्चोपचाराः—

गन्धपुष्पे तथा धूपो दीपो नैवेद्यमेव च ।
अखण्डफलमासाद्य कैवल्यं लभते ध्रुवम् ।। ३५९ ।।

१—गन्ध, २—पुष्प, ३—धूप, ४—दीप, ५—नैवेद्यम् । ये पाँच प्रकार के उपचार माने जाते हैं ।

अथोपयागवर्णनम्

विज्ञानविद्वरैस्तन्त्रशास्त्रतात्पर्यवेदिभिः ।
ब्रह्मयागो जीवयाग उभौ मार्गौ निरूपितौ ।। ३६० ।।
श्रुतिस्मृतिपुराणानां तन्त्राणां चैव पाठतः ।
उत्पद्यते ब्रह्मयागो यद्द्वारा साधकोत्तमः ।। ३६१ ।।

निजेष्टदेवताज्ञाने समर्थो जायते ध्रुवम्।
वैष्णवा गाणपत्या वा शाक्ताः शैवास्तथैव वा।
सौरा वा साधकाः सर्वे स्वस्वकल्याणकांक्षिणः॥ ३६२॥
पठेयुर्विष्णुसंगीतां श्रीकृष्णमुखनिर्गताम्।
गीतां भागवतीं चैवादित्यगीतां तथा पुनः॥ ३६३॥

विज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, तन्त्रशास्त्रके रहस्य द्रष्टा मुनियों द्वारा ब्रह्मयाग और जीवयाग यह दो मार्ग निरूपित हैं। श्रुति, स्मृति, पुराण और तन्त्रोंके पाठसे ब्रह्मयाग उत्पन्न होता है। इसके द्वारा साधकोंमें उत्तम, अपने इष्टदेवको जाननेमें समर्थ हो जाता है। वैष्णव, गणेशभक्त, शाक्त, शैव और सौर ये पाँचों प्रकारके साधक अपने कल्याणकी आकांक्षा करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे निकलने वाली विष्णुगीता, श्रीमद्भगवद्गीता अथवा सूर्यगीताका स्वाध्याय परम आवश्यक है।

शिवगीतां तथा गीतां गाणेशीं वा यथाक्रमम्।
एता हि परमोत्कृष्टास्तेषां स्वाध्यायपोषिकाः॥ ३६४॥
अनुसृत्याधिकारं स्वं गीतापाठे रतो नरः।
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं चतुर्वर्गं समश्नुते॥ ३६५॥
सर्वेषां प्राणिनामत्र दयया रक्षयाऽपि च।
मुखं तु ब्रह्मणो मत्वा ब्राह्मणान् वेदपारगान्॥ ३६६॥

शिवगीता, गणेशगीता और शक्तिगीतायें क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं और उनके स्वाध्यायकी पोषक हैं। अपने-अपने अधिकारके अनुसार ही गीताके पाठ करनेमें जो पुरुष लगा रहता है, वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति कर लेता है। जगत्के सभी प्राणियोंके ऊपर दया और उनकी रक्षाके कारण, ब्राह्मणको भगवान्का मुख मानकर वेदपारंगत ब्राह्मणोंकी सेवा करनी चाहिये।

अतिथींश्चेष्टदेवेन समान् बुद्ध्वा यदर्प्यते।
भोजनं वसनं पानं जीवयागः स उच्यते॥ ३६७॥
आभ्यां द्वाभ्यां साधनाभ्यामिह लोके परत्र च।
लभन्ते मानवाः शर्म सत्यमेतन्न संशयः॥ ३६८॥
उभौ नित्यमनुष्ठेयाववश्यं साधकोत्तमैः॥ ३६९॥

वेदज्ञ ब्राह्मणोंको और अतिथियोंको अपने इष्टदेवके समान मानकर जो कुछ अर्पित किया जाता है चाहे वह भोजन हो, वस्त्र हो, पेय-पदार्थ हो, यह सब जीवयाग कहलाता है।

इन ब्रह्मयाग और जीवयाग नामक दो साधनोंके द्वारा मनुष्य इस लोकमें और परलोकमें भी सुख प्राप्त करता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। साधनामें लगे रहने वाले लोगोंके लिये तो यह परमावश्यक है। उन्हें इनका नित्य अनुष्ठान करना चाहिये।

अथ जपवर्णनम्

मननात् त्रायते यस्मात् तस्मात् मन्त्र प्रकीर्त्तितः।
जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः॥ ३७०॥
मनः संहृत्य विषयान्मन्त्रार्थगतमानसः।
न द्रुतं न विलम्बेन जपेन्मौक्तिकहारवत्॥ ३७१॥
जपः स्यादक्षरावृत्तिर्मानसोपांशुवाचिकैः।
स्वकर्णागोचरो स जपः मानसः स्मृतः॥ ३७२॥
उपांशुर्निजकर्णस्य गोचरः परिकीर्त्तितः॥ ३७३॥
मन्त्रानुच्चारयेद्वाचा स जपो वाचिकः स्मृतः।
उच्चैर्जपाद् विशिष्टः स्यादुपांशुर्दशभिर्गुणैः।
जिह्वाजपः शतगुणं सहस्रो मानसः स्मृतः॥ ३७४॥
अतिह्रस्वो व्याधिहेतुरतिदीर्घो वसुक्षयः।
अक्षराक्षर संयुक्तं जपेत् मौक्तिकहारवत्॥ ३७५॥

मनन करनेसे रक्षा करता है, त्राण करता है, इसलिये इसे मन्त्र कहते हैं। मन्त्रके जपसे अवश्य सिद्धि होती है—इसमें सन्देह नहीं। मनको विषयोंसे हटाकर मन्त्रके अर्थमें लगाकर न जल्दी और न विलम्बसे अर्थात् समान रूपसे मोतीकी मालाके समान जप करना चाहिये।

अक्षर अक्षरकी आवृत्तिको जप कहते हैं। यह मानस, उपांशु और वाचिक तीन प्रकारका होता है। अपने कानसे भी न सुनाई दे—वह जप मानस है। अपने कानको सुनाई दे—ऐसा जप उपांशु कहलाता है। वाणी से उच्चारणकर किया गया जप वाचिक होता है। वाचिकसे उपांशु दस

गुना अच्छा है। जिह्वासे जप सौगुना और मानस जप हजार गुना अच्छा माना जाता है। अत्यन्त शीघ्र जपसे रोग होता है। अत्यन्त दीर्घ करनेसे धनहानि होती है। इसलिये मोतीके हारके मिले दानोंकी तरह अक्षर अक्षर सुन्दर जप करना चाहिये।

मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र शक्तिरन्यत्र मारुतः।
न सिध्यति वरारोहे कल्पकोटिशतैरपि ॥ ३७६ ॥
जातसूतकमादौ स्यात् अन्ते च सूतसूतकम् ॥ ३७७ ॥
सूतकद्वयसंयुक्तो यो मन्त्र स न सिध्यति।
गुरोस्तत्र हितं कृत्वा मन्त्रं यावज् जपेद् धिया ॥ ३७८ ॥
सूतकद्वयनिर्मुक्तः स मन्त्रः सर्वसिद्धिदः।
तस्माद्देवि प्रयत्नेन ध्रुवेण पुटितं मनुम् ॥ ३७९ ॥
अष्टोत्तरशतं वापि सप्तवारं जपादितः।
जपान्ते च ततो जप्यात् चतुर्वर्गफलाप्तये ॥ ३८० ॥

मन दूसरी जगह, शिव दूसरी जगह और शक्ति तथा श्वासवायु दूसरी स्थितमें रहने पर जप कभी भी सिद्ध नहीं होता। जपके आदिमें जात सूतक और अन्तमें सूत सूतक होता है। दो सूतकों से युक्त मन्त्र भी नहीं सिद्ध होता। गुरुदेवका तब ध्यान करके मन्त्र जप करना चाहिये। दोनों सूतकों रहित मन्त्र ही सिद्ध होता है। इसलिये हे पार्वति ! मूलसे सम्पुटितकर मन्त्र जपना चाहिये। १०८ बार या कमसे कम ७ बार तो मन्त्र जपना ही चाहिये। चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये जपान्तमें भी मूलको जपे।

ब्रह्मबीजं मनोर्दत्वा चाद्यन्ते परमेश्वरि।
सप्तवारं जपेन्मन्त्रं सूतकद्वयमुक्तये ॥ ३८१ ॥
मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः।
शतकोटिजपेनापि तस्य सिद्धिर्न जायते ॥ ३८२ ॥
लुप्तबीजाश्च ये मन्त्रा न दास्यंति फलं प्रिये।
मन्त्राश्चैतन्यसहिताः सर्वसिद्धिकराः स्मृताः ॥ ३८३ ॥

मन्त्रके आदि और अन्तमें ब्रह्मबीज (ॐ) लगाकर सात बार जप करनेसे दोनों सूतकोंसे मुक्ति मिल जाती है। मन्त्रके अर्थको, मन्त्रके चैतन्यको और योनिमुद्राको जो नहीं जानता, वह अरबों मन्त्र जप ले

मन्त्रसिद्धि नहीं हो सकती है। बीज रहित मन्त्र निष्फल होते हैं। मन्त्र चैतन्यके साथ मन्त्र सभी सिद्धियाँ देतें हैं।

चैतन्यरहिता मन्त्राः प्रोक्तवर्णास्तुकेवलाः।
फलं नैव प्रयच्छन्ति लक्षकोटिशतैरपि ॥ ३८४ ॥
मन्त्रोच्चारे कृते यादृक् स्वरूपं प्रथमं भवेत्।
शते सहस्रे लक्षे वा कोटिजापेन तत्फलम् ॥ ३८५ ॥
हृदये ग्रन्थिभेदश्च सर्वावयववर्द्धनम्।
आनन्दाश्रूणि पुलको, देवावेशः कुकेश्वरि।
गद्गदोक्तिश्च सहसा जायते नात्र संशयः॥ ३८६ ॥

चैतन्यसे रहित मन्त्र केवल वर्णमात्र हैं। लाखों जप करनेपर भी वे फल नहीं दे सकते। मन्त्रके उच्चारणके पहले ही जैसा स्वरूप बनता है वैसा ही फल सौ, हजार या लाख जपमें भी मिलता है। हृदयकी गाँठि खुलने लगती हैं। सभी अंग उमंगसे भर जाते हैं। आनन्दके आँसू-निकलने लगते हैं। पुलक होता है। देवताका आवेश होता है। वाणी गद्गद होती है। ये लक्षण हैं मन्त्रसिद्धिके।

अथ साधनस्थानवर्णनम्

विष्णोः सूर्यस्य शक्तेश्च दिनेशस्य शिवस्य च।
उपासनपरैः कार्यं स्थित्वा वै देवमन्दिरे॥
पूते च विजने गेहे साधनं शुभलक्षणम् ॥ ३८७ ॥
गोमयैर्गाङ्गपानीयैः शोध्यं साधनसद्म तत्।
शोभितं चैव कर्त्तव्यं चित्रैर्भावभरैः शुभैः॥ ३८८ ॥
प्राप्यते येन चित्तस्य पूतता साधकैः स्फुटम्।
रजस्तमोभ्यां युक्तं यत्र कुर्यात् तत्र कर्म तत् ॥ ३८९ ॥
मोक्षं कामयमानेन साधनीयः प्रयत्नतः।
गङ्गातीरे पञ्चवट्यामरण्ये च श्मशानके ॥ ३९० ॥

विष्णु, सूर्य, शक्ति, दिनेश और शिवकी उपासनामें परायण साधकों द्वारा देव मन्दिरमें उपासना और साधना करनी चाहिये। पवित्र एकान्त घरमें भी साधन करना ठीक है। गोबर और गङ्गाजलसे साधनाका स्थान लीप लेना चाहिये। भावोंको पवित्र करने वाले चित्रोंसे वह

स्थान सजाना चाहिये ! इससे चित्तकी पवित्रता होती है। राजस और तामस स्थानों में भी यह कर्म नहीं करना चाहिये। मोक्षकी इच्छा रखनेवाले साधकको इस दिशामें पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये गङ्गाका तीर, पञ्चवटी क्षेत्र, अथवा श्मशान भी पूर्ण उपयोगी स्थान हैं।

तीर्थे च सम्प्रदायस्य चात्मनो ह्यनुसारतः।
भूगर्त्ते च तथा योगगुहायामनुपद्रुतैः॥
साधनीयः प्रयत्नेन प्रेष्ठसिध्यभिलाषुकैः॥ ३९१॥
योगसद्म विधातव्यं प्रत्यूहो यत्र नो भवेत्।
असंस्पृष्टं च विषयैं र्विश्वोद्भूतैर्निरापदम्॥ ३९२॥

सम्प्रदाय द्वारा मान्य तीर्थ अथवा अपनी रुचिके अनुसार सुन्दर स्थान अथवा भूमि के अन्दर गर्त्त में योग साधनाके अनुकूल योगकी गुफाओंमें उपद्रव रहित और योग की उत्तम सिद्धिके अभिलाषी व्यक्ति साधना करें। ऐसे एकान्त स्थानोंमें योगसाधनाका प्रयत्न बड़ा फलदायक होता है। यह ध्यान रहे कि योगाश्रम वहीं बनाना चाहिये, जहाँ कोई विघ्न न हो। सांसारिक विषयवासनाओंसे और उनके स्पर्शसे दूर निरापद स्थान ही श्रेयस्कर है।

अथ साधनाधिकारवर्णनम्

उपासको भवेद्यस्य संप्रदायस्य कस्यचित्।
विना गुरूपदेशेन नैष्फल्यं साधने भवेत्॥ ३९३॥
पुराण - तन्त्र शास्त्रेषु संहितोपनिषत्सु च।
वर्णितं विविधं रूपं पञ्चोपासन—भेदतः॥ ३९४॥
यथाधिकारं मन्त्राणां देवतायाश्च निर्णयः।
न ग्रन्थैः साध्यते किन्तु गुरोरेवोपलभ्यते॥ ३९५॥
नैशं तमोपनेतुं सूर्यः शक्तो न दीपचन्द्राद्याः।
तद्वद् यथाधिकारं शक्ता गुरवो विनयनाय॥ ३९६॥
विना गुरुपदेशेन मन्त्रयोगस्य साधने।
नैष्फल्यं समवाप्नोति साधकः साधनोन्मुखः॥ ३९७॥

उपासक जिस किसी सम्प्रदाय का हो, बिना गुरुदेवसे उपदेश लिये साधन निष्फल हो जाता है। पुराणोंमें, तन्त्रशास्त्रोंमें वैदिक संहिताओंमें, उपनिषदोंमें उपासनाके विविध रूप दर्शित है। विशेषतः पाँच उपासनाओं के भेद भी बतलाये गये हैं।

अधिकारके अनुसार मन्त्रों और देवताओंका भी निर्णय किया जाता है। ग्रन्थोंसे, इसकी सिद्धि नहीं होती। यह तो गुरुदेवके उपदेश पर ही निर्भर है।

रात्रिके अन्धकार को दूर करनेमें जैसे अकेला सूर्य ही पर्याप्त है—चन्द्र और तारे आदि नहीं! उसी तरह अधिकारके अनुसार गुरु ही अनुशासन करनेमें समर्थ होता है। गुरुके उपदेशके बिना मन्त्रयोगकी साधना नहीं हो सकती। करने पर वह निष्फल हो जाती है। भले ही साधक श्रेष्ठ स्तरका ही क्यों न हो।

अथ मन्त्रसिद्धेरुपायः

मन्त्रे सम्यक् प्रजपिते यदि सिद्धिर्न जायते।
पुनस्तथैव कर्त्तव्यं ततः सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ॥ ३९८ ॥
भूयोप्यनुष्ठितो मन्त्रो यदि सिद्धो न जायते।
पुनस्तथैव कर्त्तव्यं ततः सिद्धो न संशयः ॥ ३९९ ॥
पुनः सोऽनुष्ठितो मन्त्रः यदि सिद्धो न जायते।
उपायास्तत्र कर्त्तव्याः सप्तशंकर - भाषिताः ॥ ४०० ॥
भ्रामणं रोधनं वश्यं पीडनं शोषपोषणे।
दहनान्तं क्रमाद् कुर्यात् ततः सिद्धो भवेन्मनुः ॥ ४०१ ॥

मन्त्रके अच्छी तरह जप करने पर भी यदि सिद्धि न हो, तो फिर उसी प्रकार करना चाहिये। तब सिद्धि अवश्य ही होगी—इसमें संशय नहीं है।

पुनः अनुष्ठान करने पर भी यदि मन्त्र सिद्ध नहीं होता, तो पुनः उसे जपना चाहिये। तब सिद्धि अवश्य होगी, इसमें कोई संशय नहीं।

फिर अनुष्ठान करने पर भी यदि मन्त्र सिद्ध नहीं हो, तो भगवान् शंकर द्वारा कहे गये सात उपाय काममें लाने चाहिये। ये सात उपाय निम्नलिखित हैं—

१—भ्रामण, २—रोधन, ३—वश्य, ४—पीडन, ५—शोषण, ६—पोषण और ७—दहन। इस तरह मन्त्र अवश्य सिद्ध हो जाते हैं।

अथ पञ्चाङ्गशुद्धिः

आत्म-स्थान—मन्त्र-द्रव्य—देवशुद्धीर्यथाक्रमात् ।
यावन्न कुरुते देवि ! तस्य देवार्चनं कुतः ॥ ४०२ ॥
पञ्च शुद्धि विना पूजा अभिचाराय कल्पते ।
स्थानेन भूतशुद्धया च प्राणायामादिभिस्तथा ॥ ४०३ ॥
षडङ्गाद्यखिल-न्यासै-रात्म-शुद्धि-रुदीरिता ।
सम्मार्जनानुलेपाद्यै दर्पणोदरवत् शुभम् ॥ ४०४ ॥
वितान—धूप-दीपादि-पुष्पमाल्यादि शोभितम् ।
पञ्चवर्ण—रजोभिश्च स्थानशुद्धिरितोरितम् ॥ ४०५ ॥

क्रमशः अपनी, स्थान, मन्त्र-पूजाके सामान और देव विग्रहकी जब शुद्धि नहीं होती, तब तक देवार्चन असम्भव है। अर्थात् देवपूजाके लिये उक्त पाँच प्रकार की शुद्धि आवश्यक है। इनकी शुद्धिके बिना की गई पूजा अभिचारात्मक हो जाती है।

जहाँ तक आत्मशुद्धिका प्रश्न है—स्थान की शुद्धि, भूतशुद्धि, प्राणयामादि योगसाधन और अङ्ग और हृदय आदिन्यासोंके करने पर ही होती है।

इसी प्रकार भूमिको झाडूसे साफ-सुथरा कर, गोबरसे लीपकर इतना स्वच्छ बना लेना चाहिये कि शीशेकी तरह स्थान चमक उठे। फिर उस पर चँदोवा या अन्य सुन्दर वितान तानना चाहिये। धूप और दीपक जलाकर उसे सुगन्धित और प्रकाशमान करना चाहिये। फूल मालासे सजाना चाहिये। पचरंगी चूर्णोंसे रंगोली बनाकर आकर्षक और मनोरम बना लेना चाहिये। इस प्रकार स्थान शुद्धि होती है।

ग्रथित्वा मातृका वर्णैर्मूलमन्त्राक्षराणि च।
क्रमोत्क्रमाद्द्विरावृत्या मन्त्रशुद्धिरितोरितम् ॥ ४०६ ॥
पूजा द्रव्याणि सम्प्रोक्ष्य मूलमन्त्रै विधानतः ।
दर्शयेद् धेनुमुद्रादीन् द्रव्यशुद्धिः प्रकीर्त्तिता ॥ ४०७ ॥

पीठदेवीं प्रतिष्ठाप्य साधकः मन्त्रविद्वरः ।
मूलमन्त्रेण माल्यादीन् धूपादीनुदकेन च ॥ ४०८ ॥
त्रिवारं प्रोक्षयेद् विद्वान् देवशुद्धिरितीरितम् ।
पञ्चशुद्धिं विधायेत्थं पश्चात् पूजां समाचरेत् ॥ ४०९ ॥

मातृका वर्णो से मूलमन्त्रके अक्षरोंको क्रम और उत्क्रम ढङ्गसे ग्रथित करने और उसकी दो आवृत्ति करनेसे मन्त्रशुद्ध हो जाता है। विधानतः मूल मन्त्रसे पूजाके सामानोंका प्रोक्षण कर धेनु आदि मुद्रा दिखाने से द्रव्य-शुद्धि हो जाती है। पीठाधिष्ठात्री देवीकी प्रतिष्ठा कर मन्त्र जानने वाला साधक मूलमन्त्रसे ही जल द्वारा माला और धूप आदिका प्रोक्षण करे। इससे देव शुद्धि हो जाती है। इन पाँचों प्रकारकी शुद्धियोंका विधानकर ही पूजाका आचार निर्वाह करना चाहिये।

अथ सिद्धिवर्णनम्

स्वभावसिद्धा जीवानां वासनेति मुनेर्मतम् ।
तन्नाशेन विना मुक्ति-प्राप्तिः परम दुष्करा ॥ ४१० ॥
परं तस्या अनादित्वान्मध्यमैरधिकारिभिः ।
सम्बन्धो हि विनिर्दिष्टो नातः पूर्वं निवर्त्तते ॥ ४११ ॥
अपेक्षिता सा सुतरां मध्यमैरधमैरपि ।
मन्त्रयोगी मन्त्रसिद्धया तपः सिद्धया हठान्वितः ॥ ४१२ ॥
ऐशीं विभूतिमाप्नोति लययोगी च संयमैः ॥ ४१३ ॥

ग्रन्थके प्रवर्त्तक मुनीश्वर की यह सम्मति है कि जीवोंकी वासना स्वभावतः सहज रूपसे सिद्ध होती है। यह भी सत्य है कि बिना वासनाके नाशके मुक्तिका होना परम दुष्कर है। वासना अनादि होती है। अतः मध्यम श्रेणीके अधिकारियोंसे उसके सम्बन्धोंका निर्देश शास्त्रोंमें मिलता है। इसके पूर्व इस वासनाकी निवृत्ति नहीं होती। चाहे वह मध्यम श्रेणीका साधक हो अधम श्रेणीका, दोनोंसे अपेक्षाकी जाती है कि वे वासना निवृत्ति का प्रयत्न करें। मन्त्रयोगी मन्त्रकी सिद्धिसे, हठयोगी, तपस्यासे, और लययोगी संयमसे ऐसी विभूति प्राप्त कर पाते हैं।

मन्त्रयोगस्य माहात्म्यं कथितं वेदविद्वरैः ।
यत्नेनैवाधिगम्यन्ते त्रिविधा शुद्धयो जनैः ॥ ४१४ ॥
मन्त्रसाधनतो देवा देव्यः संयान्ति वश्यताम् ।
विभवाश्चैव जगतो यान्ति तस्योपभोग्यताम् ॥ ४१५ ॥
यत्साधनक्रिया शुद्‌ध्या शुद्‌ध्या वै द्रव्यमन्त्रयोः ।
विभूतयो धिऽगम्यन्ते महादेववचो यथा ॥ ४१६ ॥
एतेन साधनेनात्र वैफल्यं नैव जायते ॥ ४१७ ॥

वेदके पंडित लोगोंने मन्त्रयोगको महत्ताका कथन किया है। प्रयास प्रयत्न करने पर मनुष्योंके द्वारा तीन प्रकारकी शुद्धियाँ भी जानी जाती हैं। मन्त्रको सिद्धिसे देव और दैवी शक्तियाँ सिद्ध हो जाती हैं। वे वशमें हो जाते हैं। संसारके विभव-ऐश्वर्यका साधक उपभोग करने लगता है। उसीके साधनसे क्रिया शुद्धिसे और द्रव्य एवं मन्त्रोंको सिद्धिसे विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। भगवान शंकरकी वाणी ध्रुव सत्य होती है। उसके अनुसार साधना करने पर विफलता नहीं होती !

उत्तरार्द्ध—(ग्रन्थका हृदय-भाग)

मन्त्रभेदवर्णनम्

उपासनाविधेर्भेदाद् बीजमन्त्राः पृथक् पृथक् ।
कृष्णबीजं रामबीजं शिवबीजमथापरम् ॥ १ ॥
गणेशबीजमित्यष्टबीजेभ्यश्चापरं स्मृतम् ।
मूलबीजेन संयोगात् बीजमन्त्रस्य चैव वा ॥ २ ॥
एकबीजेनान्य-बीज—मेलनाज्जायते ध्रुवम् ।
वैचित्र्यं मन्त्रशक्तीनां वदन्तीत्थं पुराविदः ॥ ३ ॥
शाखापल्लव - संयुक्ताः मन्त्राः स्युरन्यभावकाः ।
बीजं शाखापल्लवौ च मन्त्रे भवति कुत्रचित् ॥ ४ ॥

उपासनाके भेदसे बीजमन्त्र भी अलग-अलग होते हैं। जैसे कृष्ण, राम, शिवबीज और गणेशबीज ये चारबीज आठबीजोंके अतिरिक्त परिगणित किये जाते हैं। यह पृथग्भाव मूलबीजोंके बीजमन्त्रोंके संयोगके कारण होता है। कभी-कभी एक बीजसे दूसरे बीजके मिलनसे भी नये बीज मन्त्रकी सृष्टि सम्भव है। मन्त्र शक्तियोंमें इस प्रकार एक वैचित्र्य उत्पन्न होता है—ऐसा मन्त्रशास्त्रके प्राचीन विद्याविशारद कहते हैं। मन्त्र शाखाओं और पल्लवोंसे संयुक्त रहते हैं। ये मन्त्र अन्यार्थ प्रतिपादक होते हैं। किन्हीं मन्त्रोंमें बीज, शाखा और पल्लव ये तीनों ही होते हैं।

शान्तिः पुष्पं, फलं चेष्टदर्शनं त्रिनिगद्यते ।
भावप्रधाना—शाखा वै पल्लवाश्चोपवर्णिताः ॥ ५ ॥
बीजेषुशक्तिर्निहिता मन्त्रा बीजविवर्जिताः ।
शाखापल्लवयुक्ताश्च भावमुख्या मता इमे ॥ ६ ॥
परीक्ष्य शक्ति प्रकृति प्रवृत्ति साधकस्य वै ।
उपासनाधिकारश्च दत्तो मन्त्रः शुभावहः ॥ ७ ॥
तन्त्रमन्त्रोपनिषदां विज्ञाता योगपारगः ।
मन्त्रज्ञाने चोपदेशे शक्नोति स महामतिः ॥ ८ ॥

यहाँ मन्त्रको वृक्षकी उपमा दी गयी है। इसमें बीज, शाखा और पल्लव के अतिरिक्त शान्ति रूपी फूल लगते हैं। इष्टदर्शन रूपी फल लगते हैं। शाखा और पल्लव भावप्रधान माने जाते हैं। शक्ति बीजमें निहित होती है। मन्त्र बीज रहित होते हैं। शाखा और पल्लवोंसे युक्त रहते हैं। ये सभी भावप्रधान माने जाते हैं।

साधकको प्रकृति और प्रवृत्ति तथा शक्तिकी परीक्षाके उपरान्त ही मन्त्र देना चाहिये। मन्त्र, तन्त्र और उपनिषद् के विशेष जानकार योगमें पारङ्गत महाप्राज्ञ पुरुष ही मन्त्रके ज्ञान और उसके उपदेश का अधिकारी होता है।

प्रणवो मुख्यबीजञ्चोपासनाबीजमेव च।
तद्युक्तं वीतबीजं च मन्त्राः पञ्च प्रकीर्त्तिताः॥ ९॥
साधकानां हि प्रकृतिं प्रवृत्तिमनुसृत्य वै।
मन्त्रः समुपदेष्टव्यो एष मन्त्रविधिः स्मृतः॥ १०॥
मन्त्रयोगस्य माहात्म्यमिदमत्रापरं मतम्।
हठे लये तथा राजयोगे सहकरोत्यतः॥ ११॥
तन्त्रोपनिषदां संख्या यथानन्ता विधीयते।
तथा मन्त्रा ह्यनन्ता वै मुनीनामेष निश्चयः॥ १२॥

प्रणव, मुख्यबीज, उपासनाबीज, शाखा पल्लव युक्त बीज तथा बीज रहित शाखा पल्लव युक्त मन्त्र इस प्रकार मन्त्रके पाँच भेद माने जाते हैं। साधकोंकी प्रकृति, उनकी प्रवृत्ति और अधिकार की स्थिति परीक्षा करनेके बाद ही मन्त्र दिया जाना चाहिये। यही मन्त्र देनेका विधान है।

मन्त्र योगकी सबसे बड़ी महत्ता यह है कि यह हठयोग, लययोग, राजयोग और स्वयं का भी सहायक है। मुनिजन यह निश्चित मानते हैं कि जिस प्रकार तन्त्र और उपनिषदों की संख्या अनन्त है, उसी प्रकार मन्त्रों की संख्या भी अनन्त है।

मन्त्रबीजवर्णनम्

प्रणवः सर्वमन्त्राणां श्रेष्ठः सेतुनिभः स्मृतः।
मन्त्रशक्तिरनेनैव शब्दब्रह्मात्मकश्च सः॥ १३॥
बीजमन्त्रास्त्रयः पूर्वं ततोऽष्टौ परिकीर्त्तिताः।
गुरुबीजं योगबीजं तेजोबीजमथापरम्॥ १४॥

शान्तिबीजं च रक्षा च प्रोक्ता चैषां प्रधानता।
कामबीज—रमाबीज—शक्तिबीजानि चैव हि ॥ १५ ॥
उपासनासु सर्वासु भवन्ति शुभदानि च।
एषां रहस्यं संयोगो विज्ञेया योगपारगात् ॥ १६ ॥

प्रणव सभी मन्त्रोंका शिरोमणि है। सभी मन्त्रोंका यह सेतु है। इससे ही मन्त्रोंमें शक्तिका संचार होता है। यह शब्द ब्रह्म है। बीजमन्त्र ३ प्रकार हैं। ये आठ प्रकारके भी होते हैं। गुरुबीज, शक्तिबीज, रमाबीज, कामबीज, योगबीज, तेजोबीज शान्ति बीज एवं रक्षाबीज ये आठ प्रधान बीज हैं। ये सभी उपासनाओंमें शुभावह होते हैं। इनके परस्पर मिलने से कैसा चैतन्यात्मक चमत्कार होता है और इनका रहस्य क्या है—यह योगपारङ्गत विद्वान् से जानना चाहिये।

क्लीं कामबीजं निर्दिष्टमीमकारपुरस्कृतौ।
ककारसहितं रेफमीमकार पुरस्कृतम् ॥ १७ ॥
योगबीजं वदन्तीदं योगज्ञास्ते पुराविदः।
आ ए म कारसहितं गुरुबीजं प्रकीर्त्तितम् ॥ १८ ॥
हकाररेफसहित ईकारो मपुरस्सरः।
शक्तिबीजं विनिर्द्दिष्टं रमाबीजमिहोच्यते ॥ १९ ॥
शकाररेफईकारमकारैः किल जायते।
रेफष्टकारसहित ईकारस्तदनन्तरम् ॥ २० ॥
ततो मकारश्चैवं हि तेजोबीजं विधीयते ॥ २१ ॥

क्+ल्+ई+म्—यह काम बीज है। क् र् ई म् यह योग बीज है। आ ए म्—यह गुरुबीज है। ह् र् ई म्—यह शक्तिबीज है। श् रेफ ई म् यह रमाबीज है। ट्+र्+ई+म् यह तेजोबीज है। यह तन्त्र-शास्त्रके पारखी जानते हैं।

सतौ रकारेकाराभ्यां मकारेण च संयुतौ।
शान्तिबीजमिदं प्रोक्तं रक्षाबीजमथोच्यते ॥ २२ ॥
ल युतेन हकारेण हीकारमयुतेन च।
बीजं रक्षामयं प्रोक्तमृषिभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥ २३ ॥
अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता कारणब्रह्मणे यथा।
याभिराविदं कार्यब्रह्म सनातनम् ॥ २४ ॥

तथा प्रधानभूतानि बीजान्यष्टौ मनीषिभिः
अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता कार्यरूपस्य ब्रह्मणः।
उपासनासु सर्वासु कल्याणाय भवन्ति वै ।। २५ ।।

स्+त्+र्+ई+म् शान्तिबीज, ह्+ल्+ई+म् रक्षाबीज इस प्रकार गुरु, शक्ति, रमा, काम, योग, तेजस्, शान्ति और रक्षा ये आठ बीजमन्त्र आचार्यों ने बतलाये हैं। इसीके फलस्वरूप कारण ब्रह्मकी आठ शक्तियाँ मानी जाती हैं। इन्हींसे कार्यरूपी सनातन ब्रह्म आविर्भूत है। इसीसे प्रधानभूत तत्त्वकी भी उत्पत्ति हुई है। आठबीज हैं और आठ ही प्रकृतियाँ भी कार्यब्रह्ममें दीख पड़ती हैं। सारी उपासना पद्धतियोंमें यह माना जाता है कि ये परम कल्याणकी साधन हैं।

मन्त्रोत्पत्तिवर्णनम्

तदा समभवत् तत्र नादो वै शब्दलक्षणः।
ओमोमिति सुरश्रेष्ठाः सुव्यक्तः प्लुतलक्षणः ।। २६ ।।
किमिदं त्विति संचिन्त्य मया तिष्ठन् महास्वनम् ।
लिङ्गस्य दक्षिणे भागे तदाऽपश्यत् सनातनम् ।। २७ ।।
आद्यं वर्णमकारं तु उकारश्चोत्तरे ततः।
मकारं मध्यतश्चैव नादान्तं तस्य चोमिति ।। २८ ।।
सूर्यमण्डलवद् दृष्ट्वा वर्णमाद्यन्तु दक्षिणे।
उत्तरे पावकप्रख्यमुकारं पुरुषर्षभ ।। २९ ।।

हे देवताओं में श्रेष्ठ देवगण ! उस समय उसी स्थान पर ओऽम् ओऽम् इस रूपमें अत्यन्त साफ स्पष्ट, अच्छी तरह व्यक्त और ह्रस्व दीर्घमें नहीं वरन् प्लुतस्वरमें एक गम्भीर नाद उत्पन्न हुआ।

इस तरह उसी नादके सम्बन्धमें सोचता रहा। स्वयम्भू लिङ्गके दक्षिण भागमें उसी समय सनातन नाद प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर हुआ। उस नादका आदि वर्ण अकार, उसके बाद उकार, उसके बाद मकार ये तीन वर्ण साथ ही स्पष्ट दीख रहे थे। तीनों मिलकर नादान्तमें ओ३म् रूपमें ही व्यक्त थे। दक्षिण भागमें सूर्यमण्डलके समान प्रकाशमान 'अ' वर्ण था उत्तर (वाम) भागमें अग्निके समान तेजस्वी उकार था।

शीतांशुमण्डलप्रख्यमकारं मध्यमं तथा ।
तस्योपरि तदापश्यत् शुद्धस्फटिकवत् प्रभुम् ॥ ३० ॥
तुरीयातीतममृतं निष्कलं निरुपप्लवम् ।
निर्द्वन्द्वं केवलं शून्यं बाह्याभ्यन्तर - वर्जितम् ॥ ३१ ॥
सबाह्याभ्यन्तरञ्चैव सबाह्यान्तरस्थितम् ।
आदिमध्यान्तरहितमानन्दस्यापि कारणम् ॥ ३२ ॥

स्वयम्भूलिङ्गके मध्यमें चन्द्रमण्डलके समान 'म' कार था । उसके ऊपर शुद्धस्फटिकके समान तुरीयातीत, अमृतमय, निरिन्द्रिय, उपद्रव-रहित (शान्त) निर्द्वन्द्व, अद्वितीय, शून्यमय, बाह्य और आभ्यन्तरके मध्यमें स्थित, आदि मध्य और अन्तरहित, आनन्दके भी कारण रूप-

मात्रास्तिस्रस्त्वर्द्धमात्रं नादाख्यं ब्रह्मसंज्ञितम् ।
ऋग्यजुः सामवेदा वै मात्रारूपेण माधवः ॥ ३३ ॥
वेदशब्देभ्य एवेशं विश्वात्मानमचिन्तयत् ।
तदाभवदृषिर्वेद ऋषेः सारतमं शुभम् ॥ ३४ ॥
तेनैव ऋषिणा विष्णुर्ज्ञातवान् परमेश्वरम् ।
आवयोः स्तुतिसन्तुष्टो लिङ्गे तस्मिन् निरञ्जनः ॥३५ ॥
दिव्ये शब्दमये रूपमास्थाय प्रहसन् स्थितः ॥ ३६ ॥

साढ़े तीन मात्राओंमें विराजमान नादब्रह्म नामक परम तत्त्वको देखा । ऋक्, यजुष् और साम ये तीनों वेद उसकी मात्रा रूप ही हैं । फलतः वेदके शब्दोंसे ही विश्वात्मा परमेश्वर की चिन्तना होता है ।

उसी समय 'वेद' मन्त्रद्रष्टा ऋषि हुए । उन्हीं ऋषिसे विष्णुने भी यह जाना कि उस स्वयंभू लिङ्गमें ही सबका साररूप शुभप्रद परमेश्वर व्यक्त हैं । इसके बाद ऋषि और विष्णुने कहा कि—हम दोनोंकी स्तुतियोंसे उसी स्वयम्भू लिङ्गमें दिव्य शब्दमय नादब्रह्म शब्दरूपधारण कर ही हँसते हुए अवस्थित हुए ।

अकारस्तस्यमूर्द्धातु ललाटं दीर्घमुच्यते ।
इकारो दक्षिणं नेत्र मीकारो वामलोचनम् ॥ ३७ ॥
उकारो दक्षिणं श्रोत्रमूकारो वाममुच्यते ।
ऋकारो दक्षिणं तस्य कपोलं परमेष्ठिनः ॥ ३८ ॥
वामं कपोलमृकारो लृ लॄ नासापुटे उभे ।
एकारमोष्ठमूर्ध्वञ्च ऐकास्त्वधरो विभोः ॥ ३९ ॥

ओकारश्च तथौकारो दन्तपंक्तिद्वयं क्रमात् ।
अमस्तु तालुनी तस्य देवदेवस्य धीमतः ॥ ४० ॥

'अ' कार उसकी मूर्द्धा, 'आ' ललाट, 'इ' दाहिनी आँख, 'ई' वाईं आँख, 'उ' दाहिनाकान 'ऊ' बाँया कान, 'ऋ' दाँया कपोल 'ॠ' बायाँ गाल, 'ऌ' और 'ॡ' ये दोनों नासिकाके पुट, 'ए' ऊपरका और 'ऐ' नीचेका ओट, 'ओ' ऊपरको दांत पंक्ति 'औ' नीचेकी दाँतोंकी पंक्ति, अं ऊपरकी तथा अः नीचे की तालु हैं । इस प्रकार १६ स्वरोंसे उस नाद ब्रह्मके उत्तमाङ्गकी अनुभूति हुई ।

कादिपञ्चाक्षराण्यस्य पञ्चहस्तानि दक्षिणे ।
चादिपञ्चाक्षराण्येवं पञ्चहस्तानि वामतः ॥ ४१ ॥
टादिपञ्चाक्षरं पादास्तादिपञ्चाक्षरं तथा ।
पकारमुदरं तस्य फकारः पार्श्व उच्यते ॥ ४२ ॥
ब कारो वामपार्श्वं वै भकारं स्कन्धमस्य तत् ।
मकारं हृदयं शम्भोर्महादेवस्य योगिनः ॥ ४३ ॥
यकारादिसकारान्ताः विभोर्वै सप्तधातवः ।
हकार आत्मरूपं वै क्षकारः क्रोध उच्यते ॥ ४४ ॥

व्यञ्जनमय नादब्रह्मके शरीरको ऋषिने इस प्रकार देखा—क ख ग घ ङ उसके ५ दाहिने हाथ, च छ ज झ ञ बायें हाथ, ट ठ ड ढ ण दहिने पाँच चरण, त थ द ध न, बाँयेके ५ चरण, 'प' उसका उदर 'फ' पार्श्व (दाहिना) 'व' बाँया पार्श्व, 'भ' स्कन्ध 'म' कार हृदय, य, र, ल, व, श, ष, स ये सात वर्ण महादेव शम्भुके शरीरके सात धातु, 'ह' कार साक्षात् योगीश्वर की आत्मा और 'क्ष' कार उनका स्वाभाविकक्रोध है ।

तं दृष्ट्वा उमया सार्द्धं भगवन्तं महेश्वरम् ।
प्रणम्य भगवान् विष्णुः पुनश्चापश्यदूर्ध्वतः ॥ ४५ ॥
ॐकार प्रभवं मन्त्रं कलापञ्चक – संयुतम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं शुभाष्टत्रिंशदक्षरम् ॥४६ ॥
मेधाकरमभूद् भूयः सर्वधर्मार्थ – साधकम् ।
गायत्रीप्रभवं मन्त्रं हरितं वश्यकारकम् ॥ ४७ ॥
चतुर्विंशति – वर्णाढ्यं चतुष्फलमनुत्तमम् ॥ ४८ ॥

भगवती उमा के साथ भगवान् महेश्वरको देखकर भगवान् विष्णुने प्रणाम किया और ऊपरकी ओर देखा । वहाँ उन्होंने ॐ कार से उत्पन्न

पाँच कलाओंसे विशिष्ट मन्त्रका दर्शन किया। शुद्ध स्फटिकमें समान वह सुन्दर था। ३८ वर्णोंसे युक्त था। मेघाको वृद्धि करने वाला था। समस्त धर्म और अर्थका साधक, गायत्री से उत्पन्न, हरे रंगसे शोभित, जगत् वशीकरण, २४ अक्षरोंसे समन्वित, और चारों कलाओंसे विशिष्ट मन्त्रों को देखा।

अथर्वमसितं मन्त्रं कलाष्टकसमायुतम्।
आभिचारिकमत्यर्थं त्रयस्त्रिंशच्छुभाक्षरम् ॥४९॥
यजुर्वेदसमायुक्तं पञ्चत्रिंशच्छुभाक्षरम्।
कलाष्टक समायुक्तं सुश्वेतं शान्तिकं तथा ॥५०॥
त्रयोदशकलायुक्तं बालाद्यैः सह लोहितम्।
सामोद्भवं जगत्याद्यं वृद्धि-संहारकारणम् ॥५१॥
वर्णाः षडधिको षष्टिरस्य मन्त्रवरस्य तु।
पञ्चमन्त्रास्तथा लब्ध्वा जजाप भगवान् हरिः ॥५२॥

अथर्ववेदके मन्त्र कृष्णवर्ण, आठकलाओंसे युक्त अभिचारके कामोंमें समर्थ और ३३ शुभ अक्षरोंसे युक्त हैं।

यजुर्वेदके मन्त्र ३५ अक्षरोंसे युक्त, आठकलाओं वाले, सुन्दर श्वेत वर्ण वाले और शान्ति कर्ममें प्रशस्त हैं।

सामवेदके मन्त्र १३ कलाओं वाले, वाल (केश और शक्ति) से युक्त लालवर्ण, संसारके आदि और वृद्धि एवं संहारके कारण हैं (जगती नामक छन्दसे विशिष्ट हैं। इस साममन्त्रके ६६ वर्ण प्रसिद्ध हैं। भगवान् विष्णुने इन ५ प्रकारके मन्त्रोंको प्राप्त किया और उन्होंने इनका निरन्तर जप किया।

अथ दृष्ट्वा कलावर्णमृग्यजुःसामरूपिणम्।
ईशानमीशमुकुटं पुरुषास्यं पुरातनम् ॥५३॥
अघोरहृदयं हृद्यं वामगुह्यं सदाशिवम्।
सद्यःपादं महादेवं महाभोगीन्द्र-भूषणम्।
विश्वतः पादवदनं विश्वतोऽक्षिकरं शुभम् ॥५४॥
ब्रह्मणोधिपतिं सर्ग-स्थिति-संहार-कारणम्।
तुष्टाव पुनरिष्टाभिर्वाग्भिर्वरदमीश्वरम् ॥५५॥

तदनन्तर उन्होंने ऋग्, यजुष् और सामकी कलाके वर्णोंको देखकर ईशान, ईश्वरश्रेष्ठ पुरुषमुख, पुरातन, अघोरहृदय, सुन्दर, वामदेव गुह्य, सद्योजात नामक चरण वाले सदाशिव को देखा। (उन्होंने अनुभव किया

कि) वे सहस्रशिर, सहस्रवदन, सहस्रचरण और अन्यत्र नेत्रों वाले भगवान् देवाधिदेव महादेव हैं। वे ही ब्रह्माके स्वामी हैं। सृष्टि, पालन और संहार के कारण हैं। ऐसे सहज वरदान देनेवाले परमेश्वरकी इष्ट और प्रिय वाणीसे प्रार्थना की।

प्रणवप्रशंसा

श्रुतं ब्राह्मं वाक्यं श्रुत इह जनैर्यैश्च प्रणवो
गतं ब्राह्मं धाम प्रणव इह यैः शब्दित इव।
पदं ब्राह्मं दृष्टं नयनपथगो यस्य प्रणवः ॥५६॥
इदं ब्राह्मं रूपं मनसि सततं यस्य प्रणवः॥
शास्त्राणां प्रणवः सेतुः मन्त्राणां प्रणवः स्मृतः।
स्रवत्यनोङ्कृतः पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यते ॥५७॥
निः सेतु सलिलं यद्वत् क्षणान्निम्नं प्रगच्छति।
मन्त्रस्तथैव निःसेतुः क्षणात् क्षरति यज्वनाम् ॥५८॥

जिसने प्रणव (ॐ) की ध्वनि सुनी, उसने ब्रह्ममयी वाणीका श्रवण कर लिया। जिसने ओऽम् उच्चारण किया, उसने ब्रह्मधाममें पहुँच बना ली। जिसने प्रणवको देखा, उसकी आँखोंके सामने ब्रह्म पद सुस्पष्ट हो गया और जिसके मनमें ॐ का सतत स्पन्दन होता रहता है—उसने तो साक्षात् ब्रह्मके रूपको ही प्राप्त कर लिया।

प्रणव शास्त्रों और मन्त्रोंका सेतु माना जाता है। यह जिस मन्त्रके पहले नहीं लगाया जाता है—वह मन्त्र रूपी अमृत गिर जाता है। जिस मन्त्रके पीछे ॐ नहीं लगता वह मन्त्र भी बिखर जाता है। इसलिये मन्त्रोंके दोनों ओर ॐ का प्रयोग आवश्यक है।

जिस प्रवाहको रोकनेके लिये सेतु नहीं बनाया जाता, उसका जल तुरंत नीचे बह जाता है। उसी प्रकार जिस मन्त्रके आगे पीछे ॐकार नहीं लगाया जाता वह मन्त्र और उसका जप करने वाला क्षणमें ही पतित हो जाता है।

माङ्गल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकामप्रसाधनम्।
ओङ्कारं परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम्॥

यथा पर्णं पलाशस्य शङ्कुनैकेन धार्यते ।
तथा जगदिदं सर्वम् ॐकारेणैव धार्यते ॥६०॥
सिद्धान्तानां चैव सर्वेषां वेदवेदान्तयोस्तथा ।
अन्येषामपि शास्त्राणां निष्ठार्थोङ्कार उच्यते ॥६१॥
आद्यं मन्त्राक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।
सर्वमन्त्रप्रयोगेषु ओमित्यादौ प्रयुज्यते ॥६२॥
तेन सम्परिपूर्णानि यथोक्तानि भवन्ति हि ।
सर्वमन्त्राधियज्ञेन ओङ्कारेण न संशयः ॥६३॥
तत्तदोङ्कारयुक्तेन मन्त्रेण सफलं भवेत् ॥६४॥

ॐकार मङ्गलदायी, पवित्र, धर्मयुक्त, सभी इच्छाओंका पूरक है। यह साक्षात् ब्रह्म और मन्त्रश्रेष्ठ है। जैसे एक शङ्कुसे पलाशका पत्ता धारित होता है, वैसे ही यह भी सारे संसारको धारण करता है। सिद्धों, वेदों, वेदान्तादि शास्त्रोंका निष्ठार्थ ॐकार ही है। इसका पहला अक्षर ही ब्रह्म है। इसमें तीनों वेद प्रतिष्ठित हैं। सभी मन्त्रोंमें आदिमें इसे लगाते है, तभी मन्त्रपूर्ण होते हैं। ॐ सभी मन्त्रोंका अधियज्ञ है। इसीसे सभी मन्त्र सफल होते हैं।

ब्रह्ममन्त्रप्रशंसा

सगुणो ब्रह्ममन्त्रश्च द्वौ भेदौ समुदीरितौ ।
मन्त्रस्य मन्त्रयोगज्ञैर्विद्वद्भिः परमर्षिभिः ॥६५॥
सगुणेनाप्यते तूर्णं समाधिः सविकल्पकः ।
ब्रह्ममन्त्रेण तथा निर्विकल्पो हि साधकैः ॥६६॥
ब्रह्ममन्त्रे हि प्रणवः सर्वश्रेष्ठतया मतः ।
अन्ये भावमया ब्रह्ममन्त्रा योगविशारदैः ॥६७॥
महावाक्यतया प्रोक्ताश्चत्वारस्तत्र मुख्यकाः ।
चतुर्वेदानुसारेण चैते निर्णयतां गताः ॥६८॥

मन्त्र दो प्रकार के होते हैं। १—सगुण मन्त्र, २—ब्रह्ममय मन्त्र। सगुणमन्त्रसे सविकल्पक समाधि शीघ्र ही सिद्ध होती है। ब्रह्ममयमन्त्रसे साधक निर्विकल्पक समाधि प्राप्त करता है। ब्रह्ममन्त्रमें सर्वश्रेष्ठ प्रणव है। योगशास्त्र विशारद गुरुजनों द्वारा अन्य भावमय ब्रह्ममन्त्र महावाक्य

माने जाते हैं। उनमें चार मुख्य हैं। चारों वेदोंके अनुसार ये चार निर्णीत हैं।

प्रधानानि भवन्त्येव महावाक्यानि द्वादश।
वेदशाखानुसारेण महावाक्य - प्रधानता ॥६९॥
कल्पे सहस्रैकशताशीतिमन्त्रा मता इह।
ब्रह्ममन्त्रेषु मुख्यो हि गायत्रीमन्त्र ईरित ॥७०॥
स्वरूपद्योतका मन्त्राश्चात्मज्ञानप्रकाशकाः।
ब्रह्ममन्त्रो हि विहितः केवलं राजयोगिने ॥७१॥

महावाक्योंमें १२ प्रधान वाक्य हैं। वेदोंको शाखाओंके अनुसार ही महावाक्योंकी प्रधानता स्वीकृत है। कल्पशास्त्रोंमें एक हजार एक सौ अस्सी मन्त्र प्रधानतया मान्य हैं। ब्रह्ममन्त्रोंमें गायत्री मन्त्र ही मुख्यरूपसे मान्य है। मन्त्रस्वरूपके द्योतक और आत्मज्ञानके प्रकाशक होते हैं। ब्रह्ममन्त्र केवल राजयोगियोंको ही विहित हैं।

करमालानिरूपणम्

तर्जनीमध्यमानामा कनिष्ठा चेति ताः क्रमात्।
तिस्रोऽङ्गुल्योस्त्रपर्वाणो मध्यमा चैकपर्विका ॥७२॥
पर्वद्वयं मध्यमाया मेरुत्वेनोपकल्पयेत्।
अनामामध्यमारभ्य कनिष्ठादित एव च ॥७३॥
तर्जनीमूलपर्यन्तं दशपर्वसु संजपेत्।
अनामामूलमारभ्य कनिष्ठादित एव च।
तर्जनीमध्यपर्यन्तमष्टपर्वसु सञ्जपेत् ॥७४॥

तर्जनी, मध्यमा और कनिष्ठिका इन तीन अंगुलियोंके तीनपर्व और मध्यमाका ऊपरीपर्व मिलकर दशपर्व होते हैं। यही करमाला है। इनपर १० बार जप करनेपर सौ मन्त्र होते हैं। मध्यमाके नीचेके दो पर्व मेरु-माने जाते हैं। इनका उल्लङ्घन नहीं होना चाहिये।

करमालाका आरम्भ अनामिका अँगुलीके बिचले पर्वमें होता है। उसका क्रम इस प्रकार है—अनामिकाके निचले दो पर्व, कनिष्ठाके तीनों, अनामा और मध्यमाके ऊपरी दोनों और तर्जनीके ऊपरसे नीचे तक तीनों पर्व मिलकर दशपर्व बनते हैं।

१०८ की एक माला होती है। १० आवृत्तिमें इन पर्वोके क्रमसे १०×१०=१०० मन्त्र हो जाते हैं। आठ मन्त्रोंके लिये अनामिकाके निचले पर्वसे आरम्भकर उक्त क्रमसे जप करते हुए तर्जनीके मध्य पर्व पर रुक जाये। यह आठ पर्व हैं। अनामिकाके मध्य और तर्जनीके मूल पर्वको छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार मंत्रको १ माला पूरी होती है।

यह ध्यातव्य है कि यह क्रम देव मन्त्रोंके लिये ही स्वीकृत है। शाक्त-मन्त्रोंमें करमाला का दूसरा हो क्रम हैं।

अनामिकत्रयं पर्व कनिष्ठायास्त्रिपर्विका।
मध्यमायाश्च त्रितयं तर्जनी मूलपर्वणि ॥७५॥
तर्जन्यग्रे तथा मध्ये यो जपेत् स तु पापकृत् ॥७६॥
अङ्गुलीनं वियुञ्जीत किञ्चिदाकुंचिते तले।
अङ्गुलीनां वियोगाच्च छिद्रे च स्रवते जपः ॥७७॥
जपसंख्या तु कर्त्तव्या नासंख्यातं जपेत् सुधीः।
असंख्येयंप्रजपतः सर्वं भवति निष्फलम् ॥७८॥

अनामिकाके तीन, कनिष्ठाके तीन मध्यमाके तीन और तर्जनीके मूल-पर्वके क्रमसे चलनेवाली करमाला तर्जनीके अगले और बिचले पर्व छूटते हैं। उनको मेरु कहते हैं। उनसे जपनेसे प्रायश्चित्त होता है। यह शाक्त-मालाका नियम है।

इसमें भी आरम्भ अनामिकाके मध्यसे ही होता है। मध्यमाके अग्र-पर्वसे नीचे मध्यमाके दोनों पर्व लेते हुए तर्जनीके मूल पर दशपर्व पूरे हो जाते हैं। ८ मन्त्रोंके लिये अनामिका मध्य पर्व और तर्जनीके ऊपर और मध्यके पर्व छोड़ते हैं और आठ मन्त्र हो जाते है। इसप्रकारसे शाक्तकरमाला होती है। इसमें तर्जनीके दोनों मध्य और अग्रपर्व मेरु-माने जाते हैं। इनका उल्लङ्घन नहीं होना चाहिये।

इन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये—

१—अँगुलियों को अलगकर जप नहीं करना चाहिये।

२—तल थोड़ा-थोड़ा टेढ़ापन लिये चले।

३—अँगुलियोंमें छेद न बने। इन छेदोंसे जपरूपी अमृत स्रवित हो जाता है।

४—जपकी संख्या निर्धारित होनी चाहिये। बिना संख्याके निश्चय से जप नहीं होना चाहिये। असंख्यात मन्त्र जपसे पूरा जप ही निष्फल हो जाता है।

मालाविचारवर्णनम्

अरिष्टपत्रं बीजञ्च शङ्खपद्मौ मणिस्तथा।
कुशाग्रन्थिश्च रुद्राक्ष उतमं चोत्तरोत्तरम् ॥७९॥
प्रवालमुक्तास्फटिकैर्जपः कोटिफलप्रदः।
तुलसीमणिभिर्येन गणितं चाक्षयं फलम् ॥८०॥
हिरण्यगर्भमणिभिर्जप्तं शतगुणं भवेत्।
सहस्रगुणमिन्द्राक्षैरुद्राक्षै - र्नियुतं भवेत् ॥८१॥
साम्राज्यं स्फाटिके स्यात्तु पुत्रजीवे परां श्रियम्।
आत्मज्ञानं कुशग्रन्थौ रुद्राक्षाः सर्वकामदाः ॥८२॥

अरिष्ट (निम्ब) पत्र और बीज, शङ्ख, पद्म, मणि, कुश की गाँठें, और रुद्राक्ष इनकी माला क्रमशः एक दूसरेसे श्रेष्ठ होती हैं। प्रवाल (मूँगा) मुक्ता, स्फटिक, इनकी मालाओंसे जप करने पर करोड़ गुना-फल होता है। तुलसीको मनियाँसे बनी मालासे और मणिमालासे जपका अक्षय फल होता है। सुवर्ण जटित मणि मालासे सौ गुना फल प्राप्त होता है। इन्द्राक्षसे हजार गुना और रुद्राक्षसे दश हजार गुना फल होता है।

स्फटिककी मालासे जप साम्राज्य प्रदान करता है। पुत्रजीवकी मालासे लक्ष्मीको प्राप्ति होती है। कुश गाँठोंकी मालासे आत्मज्ञान और रुद्राक्षकी मालासे सभी इच्छाओंकी पूर्ति होती है।

प्रवालैश्च कृता माला सर्वलोकवशङ्करी।
मोक्षप्रदा च माला स्याद् आमलक्याः फलैः कृता ॥८३॥
मुक्ताफलैः कृता माला सर्वविद्याप्रदायिनी।
माणिक्यरचिता माला त्रैलोक्यस्त्रीवशङ्करी ॥८४॥
नीलैर्मरकतैर्वापि कृता शत्रुभयप्रदा।
सुवर्णरचितामाला दद्याद्वै महतीं श्रियम् ॥८५॥
तथा रौप्यमयोमाला कन्यां यच्छति कामिताम्।
उक्तानां सर्वकामानां दायिनी पारदैः कृता ॥८६॥

ध्यान वर्णित हैं। उनके अनेक भेद हैं। परिणामतः मनीषो शास्त्रकारोंने यह स्पष्ट कहा है कि भाव भी अनन्त हैं।

विजानद्भिर्मन्त्रभेदान् वेदतन्त्रविशारदैः।
ध्यानानि वर्णितानीत्थं कथ्यन्ते तानि तत्त्वतः ॥९९॥
उद्यत्कोटिदिवाकराभमनिशं शङ्खं गदां पङ्कजम्,
चक्रं बिभ्रतमिन्दिरावसुमती-संशोभि पार्श्वद्वयम्।
कोटीराङ्गदहारकुण्डलधरं पीताम्बरं कौस्तुभो—
द्दीप्तं विश्वधरं स्ववक्षसि लसच्छ्रीवत्सचिह्नं भजे ॥१००॥
भास्वद्रत्नाढ्यमौलिः स्फुरदधररुचा रञ्जितश्चारुकेशो
भास्वान् यो दिव्यतेजाः करकमलयुतः स्वर्णवर्णप्रभाभिः।
विश्वाकाशावकाशे ग्रहगणसहितो भाति यश्चोदयाद्रौ
सर्वानन्दप्रदाता हरिहरहृदयः पातु मां विश्वचक्षुः ॥१०१॥
सिंहस्था शशिशेखरा मरकतप्रख्या चतुर्भिर्भुजैः
शङ्खं चक्रधनुः शरांश्च दधती नेत्रैस्त्रिभिः शोभिता।
आमुक्ताङ्गदहारकङ्कणरणत्काञ्ची क्वणन्नूपुरा
दुर्गा दुर्गतिहारिणी भवतु नो रत्नोल्लसत्कुण्डला ॥१०२॥

वेद और तन्त्रके विशारद विद्वानोंने, मन्त्रभेदके ज्ञाता मनीषियोंने ध्यानके स्वरूपका बड़ा विश्लेषण किया है। वे यहाँ कहे जा रहे हैं—

१—विष्णुध्यान—उदित होते हुए करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान, हमेशा शंख चक्र गदा और पद्म धारण करने वाले, उभय पार्श्वमें एक ओर लक्ष्मी तथा दूसरी ओर माता पृथ्वीसे सुशोभित; नूपुर, वलय, हार और कुण्डल धारण करने वाले पीताम्बर और कौस्तुभ मणिसे उद्दीप्त मुखमण्डल, विश्वको धारण करने वाले, वक्षस्थल पर श्रीवत्सके चिह्नको धारण करने वाले भगवान् विष्णुकी मैं वन्दना करता हूँ।

२—सूर्यध्यान—चमकीले रत्नोंसे जटित मुकुटसे सूर्यका शिर विराजमान है। अधरोष्ठ सुन्दर हैं। शिरके केश भी चमकीले हैं। आभासे देदीप्यमान दिव्य तेज वाले हैं। हाथमें कमल है और स्वर्णप्रभासे भासमान हैं। इस विस्तृत अनन्त आकाशकी खुली सत्तामें सभी ग्रहोंके साथ गतिमान हैं। उदयाचल पर उनकी उदयकालिक शोभा अत्यन्त स्पृहणीय

है। वे सभीको आनन्द देनेवाले हैं। उनके हृदयमें भगवान् विष्णु और शिव शाश्वत शोभायमान हैं। ऐसे विश्वकी आँखके प्रतीक सूर्य मेरी रक्षा करें।

३—शक्तिध्यान—सिंह पर सवार, चन्द्रशेखरा, मरकत समान चार भुजावाली, शंख, चक्र, धनुष, बाण धारिणी, त्रिनेत्रा, मुक्ता केयूर, कङ्कण, करधनी कलित, बजते नूपुर और कुण्डलरत्ना माँ की जय हो। वह हमारी दुर्गति दूर करे।

गणेशध्यान—

खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लम्बोदरं सुन्दरं
प्रस्यन्दन्मदगन्धलुब्धमधुपव्यालोलगण्डस्थलम्।
दन्ताघातविदारितारिरुधिरैः सिन्दूरशोभाकरम्
वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं सिद्धिप्रदं कर्मसु ॥१०३॥

महेशध्यान—

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसम्
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैः व्याघ्रकृत्तिं वसानम्
विश्वाद्यं विश्वबीजं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम् ॥१०४॥

४—गणेशध्यान—वे सर्व आकृति हैं। शरीर स्थूल है। मुँह हाथीका है। उदर (तोंद) लम्बायमान है। सुन्दर हैं। कपोल पालीसे मद बह रहा है। भँवरे उसपर मँडरा रहे हैं। उनको हटानेके लिये चञ्चल हैं। दातोंके आघातसे दुश्मनोंके खूनकी नदी बह रही है। उस खूनके छींटे शरीर पर पड़ रहे हैं। उनसे प्रतीत होता है कि यह सिन्दूर की लाली है।

ऐसे पार्वतीके पुत्र ! सर्वेश्वर गणपति भगवान् गणेश समस्त कामोंमें विघ्नोंको दूरकर सिद्धि प्रदान करने वाले बनें।

५—महेश ध्यान—चाँदीके पर्वतके समान शुभ्र, चन्द्रभूषण, रत्नोंकी दमकसे शोभित शरीर, परशु, मृग, वरदान और अभय मुद्रा वाले, प्रसन्न, पद्मासीन, देववन्दित व्याघ्र चर्मधारी, विश्वके आदि बीज कारणरूप, पाँचमुख तीननेत्र और समस्त भयके निवारक भगवान् आदि पुरुष शिवका ध्यान करना चाहिये।

विशेषरूपभेदवर्णनम्

विष्णोः सूर्यस्य शक्तेश्च गणेशस्य शिवस्य च ।
मुख्यानि पञ्चरूपाणि पंचोपासनभेदतः ॥१०५॥
तन्त्रेषु मन्त्रशास्त्रेषु पुराणेषु तथैव च ।
निर्दिष्टा बहवो भेदास्तेऽत्रैवान्तर्भवन्ति वै ॥१०६॥
साधकस्य हि प्रकृतिं प्रवृत्तिमनुसृत्य च ।
यथाधिकारे रूपस्योपदेशः प्राप्यते गुरोः ॥१०७॥
यो यस्य सम्प्रदायः स्याद्या च वै कुलदेवता ।
तावेव तस्य निर्दिष्टौ तन्त्रेषु परमर्षिभिः ॥१०८॥

पञ्चोपासना सिद्धान्तके अनुसार विष्णु, सूर्य, शक्ति, गणेश और शिव ये पाँच रूप ही प्रधान हैं।

तन्त्रोंमें, मन्त्रशास्त्रोंमें और पुराणोंमें जो अनेक भेद बतलाये गये हैं— उनका सबका अन्तर्भाव इन्हीं पाँच रूपोंमें हो जाता है।

पहले गुरुद्वारा साधककी प्रकृति और प्रवृत्तिकी परीक्षा होती है। उसके बाद उसके अधिकारके अनुसार ही रूपका उपदेश किया जाता है। जो सम्प्रदाय जिस साधकका होता है और जो कुलदेवता होती है— वही सम्प्रदाय और वही कुलदेवता ऋषियोंके द्वारा निर्दिष्ट होते हैं!

युक्तियुक्तमिदं भाति यतः कुलक्रमागता ।
प्रकृतिः पैतृकगुणा साधकेषु विलोक्यते ॥१०९॥
परं यथाधिकारं वै ह्युपदेशः शुभावहः ।
उपासनायाः भेदस्य बहुत्वेऽपि प्रदर्श्यते ॥११०॥
भेदस्तन्त्रेषु यो विज्ञैर्वर्णितस्तन्त्रमार्मिकैः ॥१११॥

यह नितान्त सत्य है कि वंशकी परम्परासे आनेवाले पैतृकगुण खानदानमें देखे जाते हैं। वही उस वंशकी प्रकृति होती है। यद्यपि उपासनाके भी बहुत भेद हैं फिर भी उसी प्रकृतिके अनुसार साधकके अधिकारका आकलन गुरु करते हैं। उसी अधिकारके अनुसार उसके जीवनमें शुभके जागरणके लिये कल्याणकारी उपदेश करते हैं।

अनुसृत्योपदेष्टव्यो देवोपासनपद्धतिम् ।
विधिं चैते च द्रष्टव्ये तन्त्रशास्त्रेषु योगिभिः ॥११२॥

उपासनायाः साहाय्यं करोत्युपनिषत् स्फुटम् ।
पुराणकथिताः पञ्चगीताश्चापि सहायिकाः ॥११३॥
मन्त्रयोगाङ्गपूर्णाश्च पद्धत्या सहिताश्च वै ।
रहस्यग्रन्थाः सप्त स्युर्वैष्णवे सम्प्रदायके ॥११४॥
सौर्ये द्वौ शक्तिपूजायां चतुर्विशति कल्पिताः ।
शैवे पंचत्रयः प्रोक्ता गाणपत्ये प्रधानतः ॥११५॥
गणेशस्य च प्राधान्याद्रूपभेदो द्विधा मतः ।
क्वचिच्च त्रिविधः प्रोक्त, मताः श्रेयस्करा इमे ॥११६॥

देवोपासनाको पद्धतिके अनुसार ही उपदेश होना चाहिये । योगियोंको यह देखना चाहिये कि उपासनाका मार्ग क्या है ? और इसकी विधि क्या है ? तन्त्रशास्त्रोंमें इसका विशद वर्णन है । उपासनामें उपनिषद् विद्या बड़ी सहायक है । पुराणोंमें कही गयीं ५ गीतायें भी उपासनाकी सहायिका हैं ।

वैष्णव सम्प्रदायमें मन्त्रयोगके सभी अङ्गोंसे परिपूर्ण और उपासनाकी पद्धतियोंके साथ सात रहस्य ग्रन्थ हैं ।

सूर्योपासनाके दो ग्रन्थ हैं । शक्तिपूजामें २४ रहस्य ग्रन्थ हैं । शैव सम्प्रदायमें रहस्य ग्रन्थ १५ हैं । गणपतिको मानने वाले लोग गणेशकी प्रधानता स्वीकार करते हैं । इसमें मात्र दो भेद ही माने जाते हैं । कुछ लोग दो न मानकर ३ तीन रूप भेद मानते हैं । ये दोनों ही साधकके कल्याणके हेतु हैं ।

ध्यानभेदवर्णनम्

मन्त्रयोगानुसारेण तन्त्रशास्त्रविधानतः ।
ध्यानं सप्तविधं ख्यातं विष्णुदेवस्य पूजने ॥११७॥
चतुर्विशतिरूपं च ध्यानं वै शक्तिदेवतम् ।
शङ्करोपासनायां च ध्यानं पंचविधं मतम् ॥११८॥
श्रीसूर्यस्य समर्चायां तथा गणपतेः पुनः ।
उपासनासु कथिते ध्याने द्वे रूपकल्पिते ॥११९॥

मन्त्रयोग और तन्त्रशास्त्रके नियमोंके अनुसार वैष्णव ध्यान सात प्रकारके होते हैं । शक्तिके २४ प्रकारके, शिवके ५ प्रकारके तथा सूर्य और गणेशकी पूजामें दो-दो प्रकारके ध्यान निर्दिष्ट हैं ।

ध्यानमिष्टस्वरूपस्य वेदनं मनसा खलु ।
ध्यानमेव हि जन्तूनां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥१२०॥
ध्यायेद् यथा यथात्मानं तत्समाधिस्तथा तथा ।
ध्यात्वैवात्मनि संस्थाप्यो नान्यथात्मा वशो भवेत् ॥१२१॥
एवमेव हि सर्वत्र यत्प्रसक्तस्तु यो नरः ।
तथात्मा सोऽपि तत्रैव समाधिं समवाप्नुयात् ॥१२२॥
अभिन्नतां यथा गच्छेत् नद्यम्बु जलधिस्थितम् ।
तथात्माभिन्न एवात्र तद्भावं समवाप्नुयात् ॥१२३॥

इष्टदेवके रूपका मानसिक संवेदन ही ध्यान है । ध्यान मनुष्यके बन्ध और मोक्षका कारण बनता है । जैसे-जैसे आत्मस्थिति ध्यानसे होती जाती है—वैसे वैसे समाधि प्रगाढ़ होती जाती है। ध्यान द्वारा स्वात्ममें अवस्थान करना चाहिये । अन्यथा आत्मा वशमें नहीं हो पाता ।

इसी प्रकार जिस सम्प्रदायमें जो व्यक्ति दीक्षित है—उसीमें वह स्वात्मस्थिति पा लेता है और समाधिको उपलब्ध हो जाता है। नदीका जल समुद्रमें मिलकर उससे अभिन्न हो जाता है। उसीप्रकार स्वात्म-सत्ताका स्वात्मैक्य समाधि भावको उपलब्ध करा देता है। व्यक्ति उसी भावमें भावित हो जाता है ।

अथ समाधिवर्णनम्

समाधिर्लययोगस्य महालय इतीरितः ।
हठस्य च महाबोधो यथायोगपरायणैः ॥१२४॥
तथैव मन्त्रयोगस्य महाभावः प्रकीर्त्तितः ।
ध्यानाधिकारः सम्प्रोक्तो यावद्वै त्रिपुटीस्थितिः ॥१२५॥
विलीनायां च तस्यां वै महाभावसमुद्भवः ॥१२६॥
मन्त्र - सिद्धया देवतायां विधाय मनसो लयम् ।
त्रिपुटीनाशतो योगी समाधिमधिगच्छति ॥१२७॥

लययोगकी समाधिको महालय, हठयोगकी समाधिको महाबोध और मन्त्रयोगकी समाधिको मुनिवृन्द या योगीश्वर लोग महाभाव कहते हैं। ध्यानका अधिकार त्रिपुटीकी स्थिति तक है अर्थात् ध्येय, ध्यान और ध्याताकी अनुभूति तक ही है। इसी त्रिपुटी स्थितिके विलीन हो जाने पर जो समाधि लगती है; उसे महाभाव कहते हैं ।

मन्त्रसिद्धिके द्वारा योगी लोग अपने मनका विलय इष्टदेवतामें कर देते हैं। मनके विलय हो जाने पर त्रिकुटीका स्वतः नाश हो जाता है। परिणामतः योगी समाधि रूप महाभावको उपलब्ध हो जाता है।

मनो मन्त्रस्तथा देवो ज्ञायते प्रथमं पृथक्।
ततः परस्परं तत्तज्ज्ञाने लीनं प्रजायते ॥१२८॥
ध्येय-ध्यातृ-ध्यानरूपः त्रिपुटो विलयो भवेत्।
इमामवस्थां सम्प्राप्य साधकेषु प्रजायते ॥१२९॥
रोमोद्गमः स्तब्धता च तथाऽऽनन्दाश्रुवर्षणम्।
क्रमेण च मनोलीने समाधिः किल जायते ॥१३०॥
समाधिना भवन्त्याशु कृतकृत्या हि साधकाः।
महाभावोपलब्धिर्हि मन्त्रयोगेऽन्तिमं फलम् ॥१३१॥

साधनाकी अवस्थामें मन, मन्त्र और देव इन तीनोंका अलग-अलग बोध होता है। इसके बाद मनका मन्त्रमें और मन्त्रका देवतामें लय हो जाता है। इसप्रकार ध्येय-ध्याता और ध्यान रूप त्रिपुटीका भी नाश हो जाता है।

साधनाकी यह ऊंची अवस्था है। इसके आनेपर रोमाञ्च, स्तब्धता (ठिठकन) आनन्दके आँसुओंका निकलना आदि लक्षण दीख पड़ते हैं। क्रमशः मनके लीन हो जाने पर समाधि लग जाती है। समाधिके लग जाने पर साधक कृतार्थ हो जाता है। मन्त्रयोगकी समाधिरूप महाभावकी उपलब्धि मन्त्रयोगका अन्तिम फल है।

मनोविज्ञानवर्णनम्

अध्यात्मं मन इत्याहुः पञ्चभूतात्मधारकम्।
अधिभूतं च संकल्पश्चन्द्रमाश्चाधिदेवतम् ॥१३२॥
मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्वबुद्धिः ख्यातिरीश्वरः।
प्रज्ञा संवित् चितिश्चैव स्मृतिः परिपठ्यते ॥१३३॥
पर्यायवाचकाः शब्दाः मनसः परिकीर्त्तिताः ॥१३४॥
आस्तिक्यं प्रविभज्य भोजनमनुत्तापञ्च तथ्यं वचो,
मेधाबुद्धिधृतिक्षमाश्च करुणज्ञानं च निर्दम्भता।
कर्मानिन्दितमस्पृहा च विनयो धर्मे सदैवादरः
एतेसत्त्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणा ज्ञानिभिः ॥१३५॥

पञ्चभूत स्वरूप साधक या धारकके मनको अध्यात्म कहते हैं। संकल्पको अधिभूत और चन्द्रमाको अधिदैव कहते हैं। मन, महान्, मति, ब्रह्म, पूर्व, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, संवित्, चिति, स्मृति—ये सभी शब्द मनके पर्यायवाचक हैं।

आस्तिकता, बाँटकर भोजन करना, अनुतापकी भावना, तत्थ्य वाणीका प्रयोग, मेधा, बुद्धि, धृति, क्षमा, करुणा, ज्ञान, निर्दम्भता, अनिन्दित कर्म, अस्पृहा, विनम्रता, सदा धर्मके प्रति आदर ये सभी १५ गुण ज्ञानियों द्वारा सत्त्वगुण सम्पन्न मनके धर्म माने गये हैं।

क्रोधस्ताडनशीलता च बहुलं दुःखं सुखेच्छाधिका,
दम्भः कामुकताप्यलीकवचनं चाधीरताऽहंकृतिः।
ऐश्वर्यादभिमानिताऽतिशयिताऽऽनन्दोऽधिकं चाटनं,
प्रख्याता हि रजोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ॥१३६॥

क्रोध, मारने पीटनेका स्वभाव, बहुत दुःख, सुखकी बड़ी चाह, दम्भ, कामुकता, झूठ बोलनेकी आदत, तनिक सी बातमें धीरज खो बैठना, घमंड, अपने ऐश्वर्यके मदका अभिमान, किसी बातमें अति करनेका भाव, बेहद खुशी, बहुत भ्रमण करना आदि रजोगुणसे प्रभावित चित्तके गुणधर्म हैं।

नास्तिक्यं तु विषण्णताऽतिशयिताऽऽलस्यं च दुष्टा मतिः
प्रीतिर्निन्दितकर्मणि सदा निद्रालुताऽहर्निशम्।
अज्ञानं किल सर्वतोऽपि सततं क्रोधान्धता मूढता,
प्रख्याता हि तमोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ॥१३७॥

साधकानां मनः सत्त्वप्रधानं हितकारकम्।
तद्द्वारैव परानन्दं लभन्ते साधका जनाः ॥१३८॥
भूमयः पञ्च मनसः पतञ्जलिमुनेर्मता।
क्षिप्ता तथा च विक्षिप्ता मूढैकाग्रा ततः परा ॥१३९॥
निरुद्धा पञ्चमी बोध्या यस्याः प्राप्तिः सुदुर्लभा।
एकाग्रता सहायेनाप्नुयात्तां साधकोत्तमः ॥१४०॥

नास्तिकता, बहुत दुःखीभाव, अति, आलस्य, दुष्टबुद्धि, बुरे कामोंमें सुखमें प्रीति, हमेशा सोना, अज्ञान, क्रोधमें अन्धा हो जाना और मूर्खता ये सब तमोगुणो मनके गुणधर्म और लक्षण हैं।

साधकोंके लिये सत्त्वप्रधान मन ही हितकर है। इसके द्वारा ही साधकजन परमानन्दकी प्राप्ति करते हैं। पतञ्जलिके द्वारा मनकी ५ भूमियाँ निर्धारित की गयीं हैं। १—क्षिप्ता, २—विक्षिप्ता, ३—मूढा, ४—एकाग्रा और ५वीं—निरुद्धा। इस भूमिको पाना बड़ा दुर्लभ है। एकाग्राकी सहायतासे ही श्रेष्ठ साधक उसे प्राप्त कर पाते हैं।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धस्य विषयासक्तिः मुक्तेर्निर्विषयं मनः ॥१४१॥
मनःस्थं मनमध्यस्थं मध्यस्थं मनवर्जितम्।
मनसा मनमालोक्य स्वयं सिध्यन्ति योगिनः ॥१४२॥
इत्थं मनः सुसंयम्य योगिनो यतमानसाः।
भवाम्भोधिं समुत्तीर्यं यान्ति धाम परात्परम् ॥१४३॥

इत्यध्यात्मविद्यायां योगशास्त्रे समाप्तेयं मन्त्रयोगसंहिता ॥

मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है। बन्धन देनेवाला मन विषयमें आसक्त रहता है और मुक्ति दिलाने वाला मन विषय वासनासे रहित होता है। ['मन' शब्द संस्कृतमें नहीं होता पर यहाँ आर्ष प्रयोग है।] योगी जन मनके द्वारा आत्मचिन्तनसे सिद्ध हो जाते हैं। वे मनके अन्त-राल, मनके मध्य, मन और मननीयके मध्यको, मनसे वर्जित दशाको स्वयं देखनेमें समर्थ होते हैं। इसप्रकार वे मनसे वर्जित दशाको भी स्वयं देखनेमें तथा मनका संयम करनेमें समर्थ हो जाते हैं। ऐसे जितेन्द्रिय योगी मनका संयम कर संसार-समुद्रको पारकर परात्पर परमात्म धामको प्राप्त कर लेते हैं।

बंग मातृकासे हिन्दी लिप्यन्तरण, पूरे ग्रन्थका हिन्दीमें अनुवाद, सम्पादन, प्रकाशन और मुद्रण डॉ० परमहंस मिश्रने सम्पन्न किया। इसप्रकार यह [मन्त्रयोगसंहिता नामक ग्रन्थ पूर्ण हुआ]

मुद्रक-हनुमान मुद्रण यन्त्र, बड़ी पियरी, वाराणसी।